कुमकुमे

हिन्दी तथा उर्दू की [illegible] की चुनी हुई कहानियों का

अनुपम संग्रह

प्रथम भाग

सम्पादक :

ओ० आर० सहगल

1946

प्रकाशक :

कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड

इलाहाबाद

मूल्य चार रुपये आठ आने
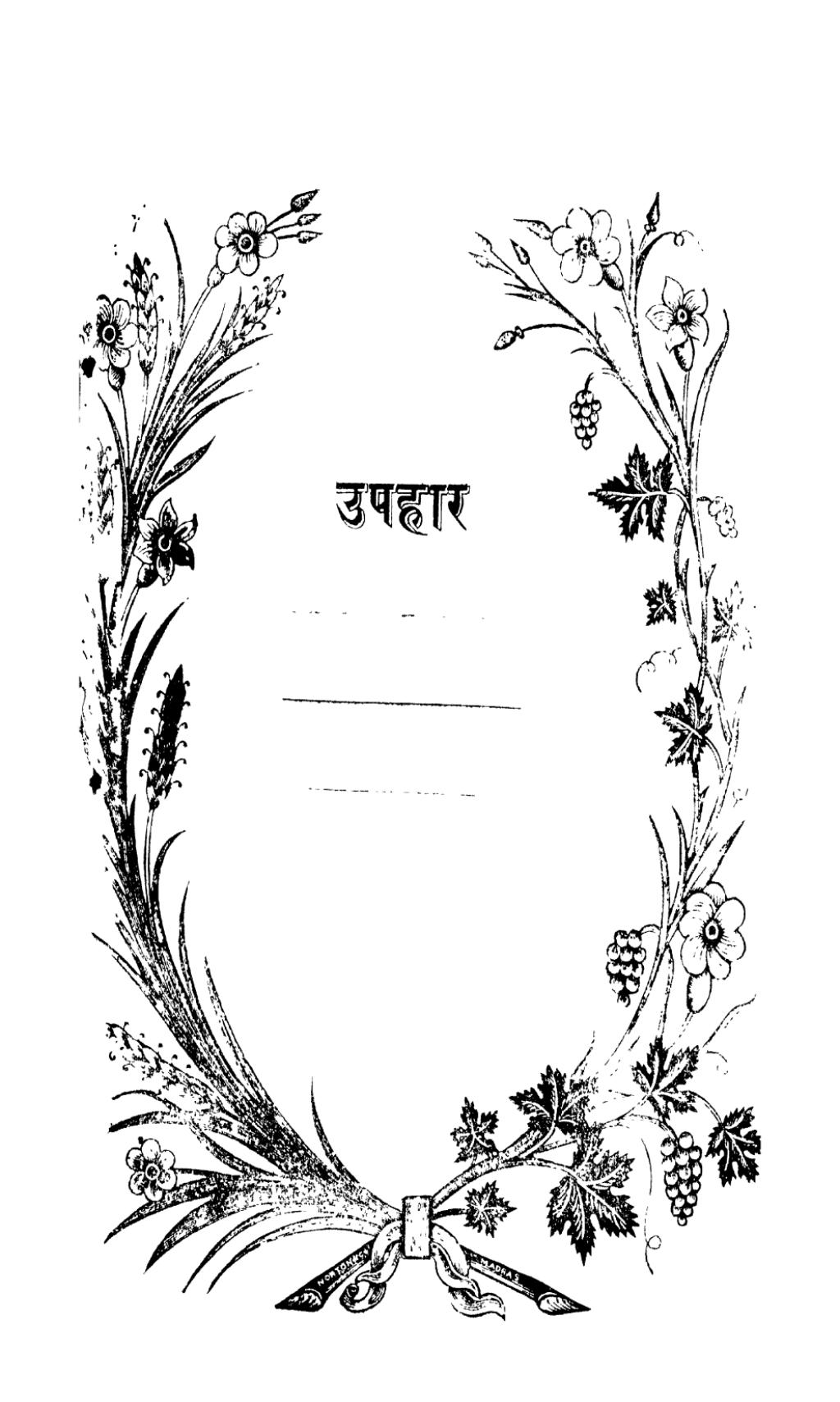
ओ० आर० सहगल द्वारा कर्मयोगी प्रेस, लिमिटे[illegible]
इलाहाबाद में मुद्रित तथा प्रकाशित

उपहार
NORTON
MADRAS

कहानियों की सूची

हास्य-रस के साहित्य का हमारे यहाँ नितान्त अभाव है और बात है भी स्वाभाविक। जिस देश के अधिकांश नागरिकों को अपनी परिमित आयु का दो तिहाई अंश जीवन-यापन की सामग्री-मात्र जुटाने में व्यय करना पड़ता हो, वे हँस ही कैसे सकते हैं ! बेहयाई की हँसी की बात मैं नहीं कह रहा हूँ, अस्तु,

अपने जीवन का सर्वश्रेठ भाग मैंने साहित्य की सेवा में ही व्यय किया है और इस साहित्यिक-जीवन में मुझे यह कमी सदा खटकती रही और मैंने साहित्य के इस महत्वपूर्ण अङ्ग को यथाशक्ति प्रोत्साहित करने का प्रयत्न भी किया है। मैंने अपने समय के 'भविष्य' जैसे कर्मठ राजनैतिक पत्र में—जिसे माननीय डॉक्टर कैलाशनाथ काटजू सदा 'ऑफ़िशिएल ऑर्गन ऑफ़ दि रिपब्लकिन आर्मी' कहा करते थे—इसकी पुट देने की चेष्टा की थी। मेरे समय के 'चाँद' के हिन्दी तथा उर्दू संस्करण में भी हास्य रस के कुछ स्तम्भ स्थाई रूप से रहा करते थे, दुबे जी की चिट्ठी आदि के श्रीगणेश करने का श्रेय मुझे ही प्राप्त है; पर अकेला मैं कर ही क्या सकता था ? अन्य भी अनेक कारण हैं, जिनमें प्रमुख है हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य में हास्य-रस का नितान्त अभाव।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से कोई इस विषय का अध्ययन करना चाहे, तो स्पष्ट ही है, कि हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में हास्य-रस का साहित्य काफ़ी तगड़ा है और हिन्दी के प्रायः वे ही कविता, कहानी अथवा हास्य-रस के लेखक सफ़ल सिद्ध हुए हैं, जो हिन्दी

के अतिरिक्त उर्दू तथा फ़ारसी के भी पण्डित हैं। उदाहरण के लिए स्वर्गीय 'कौशिक' जी, स्वर्गीय 'प्रेमचन्द' जी तथा श्रद्धेय 'हरिऔध' जी, 'सुदर्शन' 'अश्क' आदि के शुभनाम लिए जा सकते हैं; पर आजकल का वातावरण सर्वथा विचित्र बन गया है। हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक संघर्ष ने हिन्दी, तथा उर्दू ज़बानों को भी 'पाकिस्तान' का पर्यायवाची बना डाला है और इस रगड़-झगड़ के कारण इस अभागे देश की एक मात्र धरोहर, हमारी भाषा भी रसातल की ओर वेग से धँसी जा रही है। महामाया देशवासियों को सद्बुद्धि दे, यही मेरी प्रार्थना है, अस्तु

मैंने 'गुलदस्ता' नाम के लाईट रीडिंग, क्षमा करेंगे उपयुक्त हिन्दी मुझे सूझ नहीं रही है, की एक पत्रिका प्रकाशित की। मुझे इस बात का गर्व है, कि उङ्गली पर गिने जाने वाले हिन्दी के प्रायः समस्त उच्चकोटि के हास्य-रस-लेखकों का सहयोग मुझे प्राप्त था फिर भी श्री० सरयू पण्डा गौड़ ने एक बार पत्र लिख कर मुझे इस बात का परामर्श देने की कृपा की थी, कि अच्छा हो, यदि मैं कतिपय 'प्रगतिशील हास्य-रस के लेखकों' का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ। मैंने गौड़ साहब के साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए, मुझे खूब स्मरण है, मैंने उन्हें लिखा था, कि चूँकि अपने सगे भाई नन्द गोपाल सिंह तथा इलाहाबाद के काग़ज़ी निरंजनलाल भार्गव आदि की बेईमानियों के कारण बहुत दिनों से मुझे साहित्यक-सन्यास लेना पड़ा था अतएव सम्भव है मैं उन महानुभाव प्रगतिशील साहित्यकों के सम्पर्क में न आ सका हूँ, इसलिए मैंने उनसे इस बात की प्रार्थना की थी, कि ऐसे कुछ सुलेखकों के शुभनाम वे मुझे लिख भेजें, जिनके सम्पर्क एवं सहयोग द्वारा मैं पाठकों की और भी अच्छी सेवा कर सकूँ, पर पण्डा जी दो-चार नाम भी मुझे नहीं बता सके! कहना न होगा, कि पण्डा जी स्वयं अपने को भी हास्य-रस के प्रगतिशील लेखक समझते हैं। आपकी 'दावत' शीर्षक एक रचना पाठक अन्यत्र देखेंगे और उसी के बगल में 'मेहमाननवाज़ी' शीर्षक श्रीमती हिजाब इम्तयाज़ अली की एक रचना भी। कौन क्या है, इसका निर्णय पढ़ने वाले स्वयं कर लेंगे। मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहना चाहता, इस सम्बन्ध में।

हाँ तो मैं कह यह रहा था, कि यदि उर्दू वालों से लड़ना ही है, तो राजनैतिक क्षेत्र में ही यह द्वन्द ठीक रहेगा, भगवान के लिए साहित्यिक-क्षेत्र को इस गन्दगी से हमें दूर ही रखना चाहिए! प्रत्येक सुन्दर एवं स्वस्थ साहित्य का हमें आदर करना चाहिए, चाहे वह चीनी हो अथवा जापानी, गुजराती हो अथवा मराठी, हिन्दी हो अथवा उर्दू। उर्दू फिर भी हमारे बाप-दादों की ज़बान कही जा सकती है, पर

अँग्रेज़ी उनके बाप तथा दादों ने भी काहे को पढ़ी होगी ? पर देखा यह जाता है, कि अँग्रेज़ी बोलना तो आजकल का सभ्य समाज विधाता का वरदान समझता है और उर्दू अभिशाप !

संक्षेप यह, कि मैंने इसी दृष्टिकोण को अपने समक्ष रखकर प्रस्तुत संग्रह प्रकाशित करने का साहस किया है ताकि हमारी राष्ट्रीय भाषा का भण्डार भर सके। इस संग्रह में मैंने केवल हिन्दी तथा उर्दू लेखकों की रचनाएँ ही नहीं दी हैं, बल्कि उर्दू तथा हिन्दी के हिन्दू तथा मुसलमान लेखकों को समान रूप से स्थान दिया है ताकि पाठक किसी विशेष लेखक के नाम से प्रभावित होकर ही उसकी प्रशंसा न करने लगें इसीलिए रचना के साथ लेखक का नाम नहीं दिया गया है; यद्यपि अन्यत्र प्रकाशित सूची में प्रत्येक लेखक का शुभनाम प्रकाशित है पर मेरी राय यदि मानें तो मैं तो यही प्रस्ताव पेश करूँगा, कि पहिले समस्त पुस्तक एक साँस में पढ़ डालें फिर जिन कहानियों से आप विशेष प्रभावित हों उनके लेखक ढूँढ़ निकालिए। इस प्रकार पढ़ने का आनन्द कई गुणा बढ़ जायगा।

पुस्तक को चित्रित तथा सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने में मुझे सुप्रसिद्ध कलाकार श्री० शिक्षार्थी जी का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा है, इसके लिए धन्यवाद देने की रस्म-अदायगी करनी ही पड़ेगी; पर मैं पुस्तक को जो रूप देना चाहता था उसका एक अंश भी मैं नहीं दे सका। कारण स्पष्ट है, जिस देश में खाने को अनाज, पहिनने को वस्त्र और रहने को स्थान न मिल रहा हो, एक ऐसे देश काल और वातावरण में हास्य रस की पुस्तक अनायास ही प्रकाशित कर देना मेरी हद दर्जे की धृष्टता समझी जायगी और पढ़ने वाले मेरा मज़ाक़ करने लगेंगे, जबकि उन्हें यह मालूम होगा कि अच्छे कार्यकर्ताओं तथा समुचित सामग्री के अभाव के कारण इस पुस्तक की छपाई में तीन सुदीर्घ वर्ष लग गए हैं, पूरे तीन वर्ष !!

मेरे पास कुछ चुनी हुई सामग्री और भी सुरक्षित है और यदि यह संग्रह पाठकों को रुचा और इसका समुचित आदर हुआ तो पाठकों को सहज ही इस पुस्तक के तीन और भाग पढ़ने को मिल सकते हैं।

अन्त में मैं उन मित्रों का आभार मानता हूँ, जिन्होंने कहानियाँ भेजकर अथवा प्रस्तुत संग्रह में अपनी रचना प्रकाशित करने का समस्त अधिकार मुझे सौंप देने की उदारता प्रदर्शित की है।

रैन बसेरा
इलाहाबाद,

—आर सहगल
१५-५-४१

वालिद साहब ने फ़र्माया—घोड़ों को दाना वक़्त पर बराबर भिजवाती रहना।

वालिदा साहेबा बोलीं—"जो अगर आटा तुलवा कर नहीं दोगी, तो यह अहमद रोटियाँ सुखा-सुखा कर फेंकेगा और घी वग़ैरह की छीछालेदर करेगा, सो अलग!"

अर्ज़ है, कि भाभी जान और श्रीमतीजी—दर-असल दोनों की दोनों, बक़ौल वालिदा साहेबा—बड़ी सुशील, ख़िदमदगार और लायक़ बहुएँ हैं (बड़ी मुशकिल से जा कर मिली हैं) शौहर का यहाँ सवाल नहीं, लेकिन सास और ससुर की ख़िदमद करने वाली बहुत हैं। लेहाज़ा दोनों ने, एक दूसरे से पहिले, सर हिला कर कहा : भाभी जान बोलीं—"घी और आटा! तोल कर दिया जाया करेगा।"

श्रीमती जी बोलीं—"और मसाला भी, और......"

वालिदा साहेबा बलीं—"ख़ैर, अब मसाले भी तुलने लगे। यह तो मेरा मतलब नहीं है कि काली मिर्चें और नमक की डलियाँ गिनो......"

बात काट कर श्रीमतीजी ने कहा—"मतलब यह है, कि देख-भाल कर और अन्दाज़ से सब दिया जायगा।"

भाभी जान बोलीं—"और क्या, बल्कि घी और शक्कर वग़ैरह रोज़ के अन्दाज़ से भी कम ख़र्च करेंगे।"

वालिदा साहेबा ने कहा—"यह मतलब नहीं है मेरा, कि खाने पीने में कमी करो। मतलब यह है, कि हर चीज़ ढङ्ग से ख़र्च हो; ज़ाया न जाय।"

दर-असल चूँकि दोनों ख़ूब समझ गई थीं, कि पूज्नीया ख़ुशदामन (सास) का क्या मतलब है। लेहाज़ा ख़ूब सर हिलाये और ख़ूब समझीं!

वालिद साहब ने मेरी तरफ़ देख कर कहा—"और, मुर्ग़ियों का ख़्याल रखना; उसकी दुम पर दवा लगवाने रोज़ाना याद कर के भिजवा देना।"

मैंने कहा—'बहुत अच्छा।' दर-असल एक मुर्ग़ी की दुम किसी नालायक़ बिल्ली ने उखाड़ ली थी, लेकिन चूँकि मुर्ग़ी साहेबा कुछ तो स्वयं झगड़ा-फ़साद की शौक़ीन थीं और कुछ मुर्ग़-साहेबान की इस तरह चहेती हो रही थीं, कि उनकी दुम बढ़ने ही में नहीं आती थी और नौबत यहाँ तक पहुँच गई थी, कि ठीक दुम पर दवा लग रही थी।

सारांश यह, कि वालिदा साहेबा ने नक़द रक़म भी बहुओं को घर के ख़र्च के लिये सौंपी और रुख़सत होने लगीं। चलते वक़्त श्रीमतीजी और भाभी जान, दोनों को वालिदा साहेबा ने गले से लगाया, तो दोनों की हालत इस सदमा (वियोग) की वजह से ग़ैर हो रही थी! मगर किस सफ़ाई से भाभी जान वालिदा साहेबा के कन्धे के ऊपर से भाई साहब से नज़र चार होते ही हँसी हैं, कि किसी को पता तक न चला।

वालिद साहब और वालिदा साहेबा बीस रोज़ के लिए घर-बार हम लोगों पर छोड़ कर जा रहे थे, वल्लाह क्या कहना है हमारी ख़ुशियों का!!

०

रात के साढ़े बारह बजे होंगे, जो हम अपने पूजनीय वालदैन को स्टेशन से रुख़सत करके वापस आए! अब वापस जो आए हैं, तो तबीयत बाग़-बाग़ हो गई; क्योंकि आपसे ठीक अर्ज़ करते हैं, कि नाश्ता तय्यार था! जी हाँ नाश्ता, कोई एक बजे रात के!! कुछ नहीं, सिर्फ़ एक-एक प्याली चाय, कुछ मक्खन, एक-एक टोस्ट और एक-एक अण्डा!

भाभी जान और श्रीमतीजी से जब हम दोनों भाइयों ने क़ायल होकर इस ग़ैर-मामूली 'नाश्ता' की वजह पूछी, तो मालूम हुआ कि 'यूँ ही' तय्यार किया गया था।

दर-असल नाश्ता करने के बाद पता चला, कि यह तो बेहद ज़रूरी था! सारांश यह कि 'बहुओं' की इस दूरन्देशी को देखते हुए हम दोनों भाइयों को इस बात का क़ायल होना पड़ा, कि आइन्दा इन्तज़ाम बहुत ही अच्छा रहेगा! चूँकि रात ज़्यादा हो गई थी, लेहाज़ा अब सोने की ठहरी!!

३

हम बतला ही क्यों न दें, कि हमारे यहाँ मुर्ग़ियाँ (बढ़िया वाली) उम्दा-उम्दा बहुत-सी थीं। रात को घण्टा-भर मुशकिल से सोए होंगे, कि मानों एक भूचाल-सा आ गया, यानी एक क़यामत-खेज़ ज़लज़ला, यानी मुर्ग़ियों में बिल्ली आई, कुत्ते ने बे-मौक़ा बिल्ली-रानी को देख पाया और उसे बड़े कमरे में क़िलेबन्द होने पर मजबूर कर दिया! हम लोग दौड़े! भाई साहब ने बदक़िस्मती, या ख़ुशक़िस्मती से, बिल्ली को जो देखा, तो झट से कमरे को बाहर से बन्द करके बोले—"बन्दूक़ लाओ।"

मेरी समझ में न आया, कि बन्दूक़ की भला क्या ज़रूरत है। बिल्ली कमरे में बन्द है, घुसकर मार डालें। मगर जनाब बड़े और छोटे में अक़्ल का बहुत फ़र्क़ होता है। सारांश यह कि भाई साहब ने बन्दूक़ झपट कर निकाली और बिल्ली को मार दिया!

मुर्ग़ी भी उसी कमरे में थी। उसको देखा तो सहमी हुई, मगर ज़ख़्म नदारद! भाई साहब ने झट कहा, कि मुर्ग़ी सख़्त ज़ख़्मी हुई है, और ज़रूर मर जायगी।

भाभी जान बोलीं कि "ख़ुदा के वास्ते इसे जल्द ज़िबह कीजिये।" चुनाञ्चे जल्दी में मैंने श्रीमतीजी को छुरी लेने दौड़ाया और मुर्ग़ी ज़िबह कर ली गई। इस मुर्ग़ी को ज़िबह किया ही था, कि दूसरी मुर्ग़ी खम्भे के पास खड़ी मिली। भाभी-जान ने कहा कि ज़रूर इसे भी एक-आध छर्रा लगा मालूम होता है। बिना इस बात की जाँच किए फ़ौरन ही उसे भी ज़िबह कर देना पड़ा!

रात को बन्दूक़ का धमाका! एक सिरे से कोचवान, धोबी और नौकर उठकर आ चुके थे। सब को इतमीनान दिलाया कि कुछ नहीं, सिर्फ़ बिल्ली

ने दो मुर्ग़ियाँ "तोड़ दीं।" बिल्ली मार डाली गई और मुर्ग़ियाँ ज़िबह कर ली गईं। दर-असल हमारे यहाँ मुर्ग़ियाँ पेड़ पर रहती थीं और नीचे कुत्ते रहते थे। अब यह पता नहीं, कि हमारे भागों आखिर यह छींका टूटा कैसे?

भाई साहब ने बन्दूक़ झपट कर निकाली और......

शुरू बरसात का ज़माना था। फिर रात को वैसे ही देर कर सोए थे, और फिर अब कोई डर भी नहीं था; लेहाज़ा आँख ही न खुली। आख़िर को श्रीमतीजी ने आकर जगाया। मैं उठा तो सामने भाई साहब की तरफ़ निगाह पड़ी। वह उठ बैठे थे, मगर गोद में दोनों हाथ रक्खे हुए आगे को ऊँघ रहे थे और देखते-देखते मेरे सिजदे में चले गए, कि इतने में भाभी जान ज़ोर से उन पर चीख़ीं और इत्तला दी की नाश्ता ठण्डा हो जायगा। यह ख़ुशख़बरी

सुनकर भाई साहब की नींद काफ़ूर हो गई और वे झपट कर तेज़ी से उठ ही तो बैठे !

हम दोनों नाश्ता पर पहुँचे हैं, तो दम सूख गया, जान जल गई और वे तमाम उम्मीदें, जो रात के नाश्ते की वजह से क़ायम हुई थीं, सब बेकार हो गईं; क्योंकि यहाँ नाश्ता में कोई ख़ास फ़र्क़ ही न था ! हाँ, अण्डा अलबत्ता बजाय एक के, फ़ी कस दो-दो थे वरना वही मरहठा घिस-घिस ! तो यह तो कोई खास फ़र्क़ ऐसा न था, जो मैं श्रीमतीजी का क़ायल हो जाता या भाई साहब या भाभी-जान के इन्तेज़ामे-ख़ानादारी (घर-गृहस्थी का प्रबन्ध) की दाद दे सकता।

क़िस्सा यह, कि मैं और भाई साहब—दोनों ने नाश्ता देख कर मुँह बिगाड़ा। भाई साहब ने कुछ तलख़ी (रुखाई) से कह दिया साफ़-साफ़ भाभीजान से और सुना दिया श्रीमतीजी को, कि "अगर दो वक़् पराठों में फ़र्क़ पड़ा" या नाश्ता में फ़ी कस कम से कम चार अण्डे न मिले और वही घिस-घिस, कि गिना-चुना और नपा-तुला मामला, तो हम दोनों (वह और मैं) तो घर से निकल जायँगे और शायद फ़क़ीर बन जायँगे; नहीं तो फ़ौरन तार दे कर कम से कम वालिदा साहेबा को ज़रूर बुला लेंगे !" चुनाञ्चे यह कह कर भाई साहब ने आवाज़ दी अहमद को। वह आया तो उससे दर्याफ़्त करने पर मालूम हुआ कि इस वक़् चौदह अण्डे और हैं। लेहाज़ा कहा गया कि सब के सब अभी-अभी लाओ तल कर ! अहमद ने ताज्जुब से मुँह फाड़ कर जो भाई साहब से पूछा कि "सब" ? तो उन्होने डाँट कर कहा—"और नहीं क्या आधे !" फिर उसने उसी लहज़े में "अभी" जो कहा है, तो उधर वह उसको मारने उठे और इधर मैंने अपना छोटा-सा चमचा उसे खेंच कर मारा कि बकवास कर रहा है फ़िज़ूल !!

अहमद अण्डों का भरा हुआ 'फ्राई पैन' लाया और उसी की छुरी से बराबर के चार हिस्से काट लिए गए। अब इतमीनान से 'नाश्ता' हो रहा था और बातें भी होती जाती थीं—"इन वाहियात 'टोस्टों' से हम तङ्ग हैं !" भाई साहब ने एक पूरे 'टोस्ट' का आधा लुक़मा बनाते हुए कहा।

"फिर क्या हो ?"—भाभी-जान ने मुस्कुराते हुए फ़र्माया।

बजाय भाभीजान को जवाब, देने के, भाई साहब ने अहमद की तरफ़ मुख़ातिब हो कर कहा—"सुनता है बे... (चम्मच को प्लेट पर मार कर खट से) सुबह (खट)...दोपहर (खट)......और शाम (ज़ोर से खट) तीनों वक़्त पराठे पका करेंगे, पराठे! रोटी के बदले भी, टोस्ट के बदले भी और 'नाश्ता' के बदले भी।

'रोज़?'—अहमद ने पूछा।

"अबे और नहीं तो क्या एक वक़्त!" यह कह कर चाय जो देखते हैं, तो ख़तम और जो माँगी, तो नदारद! लेहाज़ा डाँट कर कहा—"फ़ी कस चार प्याली से कम न हो कल से; जाओ, अभी लाओ और खौलता हुआ पानी!" लेहाज़ा वह पानी लाने दौड़ा!

पानी तैयार था, जल्दी से चायदानी में पानी भर कर चाय दम करने के लिए भाई साहब ने चायदानी तौलिए में लपेट कर बग़ल में दाब कर रक्खी! टोस्ट और तैयार न थे, लेहाज़ा डबल-रोटी के बग़ैर सेंके हुए टोस्ट भाभीजान और श्रीमतीजी ने जल्दी-जल्दी काटना शुरू किया। इतने में मैं मुस्कुराया, भाभीजान ने मुझ से वजह पूछी। मेरे दिल में दर-असल एक बिलकुल ही पाक और अछूता ख़याल आया था। चुनाञ्चे भाभीजान से .खूब मिन्नतें कराने के बाद मैंने कहा—"मैं सोच रहा हूँ, कि तीन-चार दिन तक सिवा बिरयानी या पुलाव के, किसी वक़्त भी कोई और चीज़ खाई ही न जाय, तो कैसा?"

भाभीजान ने मुस्कुरा कर श्रीमतीजी की तरफ़ देखा और आहिस्ता से कहा—"हमें क्या ख़बर।"

मगर भाई साहब की बाँछें खिल गईं। उन्होंने अपनी रज़ामन्दी का इज़हार करने की नीयत से (ज़बान चाटते हुए) चाय की प्याली ज़ोर से मेज़ पर रखते हुए कहा "पुलाव", और यह कह कर श्रीमतीजी और भाभी-जान की तरफ़ ज़रा ग़ौर से देखा।

ये बेचारियाँ, वफ़ा की जीती-जागती पुतलियाँ यानी शौहरों की इतायत शआर (आज्ञाकारिणी) और वफ़ादार बीबियाँ, और हुक्म तो चाहे टाल जायँ, मगर फ़िलहाल तो इन अण्डे खाने वाले हुक्काम की मासूम और इतायत-गुज़ार (आज्ञाकारिणी) बीबियों की तरह हमारी इस तरह

की सभी तजवीज़ों की तामील कर रही थीं। चुनाञ्चे जब भाई साहब ने दोबारा भाभीजान से उस पुलाव वाले मामले में राय ली, तो उन्होंने फिर वही जवाब दिया कि "हम कुछ नहीं जानते" और इतना कह कर श्रीमतीजी की तरफ़ देखा और उनके खिले हुए चेहरे पर कुछ मुस्कुराहट-सी आई!

श्रीमतीजी ने अण्डे का नवाला पार करते हुए एक और ही वफ़ादाराना अन्दाज़ से कहा—"हम से जो भी कहोगे कि पकाओ, हम पकवा देंगी। हम क्या जानें; झाड़ पड़ेगी आप दोनों पर!"

इधर अहमद भी ताड़ गया कि हवा किस रुख़ जा रही है। लेहाज़ा उसने एक और ही तजवीज़ पेश की। कहने लगा कि "दुल्हिन बी, कस्तल (कस्टर्ड पुडिङ्ग) कैसी रहेगी?"

"पुडिङ्ग!" भाई साहब ने तेज़ी से चाय का घूँट निगल कर कहा।

"कस्टर्ड" मेरे मुँह से भी पसन्दीदगी के लहजे में निकला। चुपके से श्रीमतीजी और भाभीजान में आपस में आँखों ही आँखों में कुछ कहा-सुना! भाई साहब बोले—क्यों जी, बजाय खाने-वाने के एक दिन पेट भर-भर कर "पुडिङ्ग" खाया जाय, तो कैसा?

मैंने अहमद से कहा—"देखता है बे! आज रात को खाना हम चारों के लिए बिलकुल नहीं पकेगा।"

"फिर क्या पकेगा? 'कस्तल'?"

"हाँ" मैंने कहा—"सुन लो कान खोल कर! दोपहर को मुर्ग़ियों का पुलाव पकेगा। दोनों मुर्ग़ियाँ पड़ेंगी और रात को सिर्फ़ पुडिङ्ग।"

अहमद बोला—"तो साहब, कितने अण्डों की पकेगी?"

भाई साहब बोले—"इन वाहियात बातों को हम कुछ नहीं जानते। कम न पड़े, बस।"

मैंने धमकी देकर कहा—"अगर कम पड़ी तो बस ख़ैरियत नहीं तुम्हारी।"

चमचा दिखा कर भाई साहब ने कहा—"उल्टा टाँग दूँगा...!"

अहमद ने गोया धमकी में लेना चाहा, यह कह कर कि पचास अण्डे आएँगे, मगर भाई साहब ने उसे एक बार फिर डाँट कर ख़ामोश कर दिया—"हम कुछ नहीं जानते।"

इस कसीर मिक़दार में नाश्ता था, मगर हम सब ने निहायत सफ़ाई और ख़ूबसूरती के साथ फ़राग़त हासिल की, और बात दर-असल यह है, कि आज पता आख़िर को चल ही गया, कि 'नाश्ता' कहते किसे हैं ?

नाश्ते के बाद मैं अपने कमरे में कपड़े बदलने चला गया, क्योंकि कॉलिज का वक़्त हो चुका था।

कपड़े बदल कर जो आया, तो क्या देखता हूँ कि भाई साहब नेहायत इतमीनान के साथ बैठे कुर्सी पर पैर हिला रहे हैं। मैंने उनसे पूछा कि "कॉलिज नहीं चलोगे ?" तो कहने लगे कि "हमारे पहिले दो घण्टे खाली हैं।" और जब मैंने इसकी फ़ौरन ही उनके टाईम-टेबिल से तरदीद कर दी, तो तबियत की गिरानी का उज्र कर के कहने लगे—"आज सुबह उठते ही तबियत कुछ भारी थी।" चुनाञ्चे कॉलिज जाने से उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया। मैं चल दिया। लकिन मुशकिल से दर्वाजे के बाहर क़दम रक्खा था, कि वह बोले—"सुनो तो !"

मैंने मुड़ कर देखा, तो वह हँस रहे थे और भाभीजान भी मुस्कुरा रही थीं !

मैंने कहा—"आख़िर मामला क्या है ?"

हँस कर कहने लगे—"आओ फिर······हो जाय न आज !"

मैंने कहा—"हटो भी; मेरे पहिले ही के दाम बाक़ी हैं।"

"नक़द होगा" भाई साहब बोले—"नक़द, नक़द, बिलकुल नक़द !

मैं खड़ा हो कर सोचने लगा। मुझे इस शशोपञ्ज में देख कर उन्होंने भाभीजान से कहा : "लाओ जी ताश" और मेरी तरफ़ सर घुमा कर बोले कि "हटाओ भी, तुम्हारी हाज़री तो पूरी है कॉलेज में।"

मैंने कहा—"भाई हम नक़द खेलेंगे।"

फिर कहने लगे—"नक़द, नक़द, बिलकुल नक़द।"

मैंने किताबें फेंक दीं अलग, कोट उतार दिया और अपने पार्टनर (श्रीमतीजी) को पकड़ने दौड़ा। जल्दी से पहुँच कर निहायत तेज़ी से 'तुरूप' और जुमला पत्ते बताने के इशारे मुक़र्रर करके उन्हें ख़ूब ज़ेहन-नशीन कराया, यानी रटाया, और श्रीमतीजी को ले कर कमरे में आया।

भाभी-जान ताश फेंट रही थीं और अपनी सफ़ाई ज़ाहिर करते हुए दरवाज़े में क़दम रखते ही मैंने कहा—"हम नहीं खेलते। तुम दोनों बाज़ी बताने के इशारे मुक़र्रर कर रहे थे।"

भाई साहब और भाभी-जान ने जब क़स्में खा कर उल्टा हमारे ऊपर, शुबहा करके हमसे क़स्में खिलवाईं तो मजबूर होकर हमें भी चन्द क़स्में खानी ही पड़ीं।

ताश ले कर खेलने बैठे ही थे, कि ख़्याल आया कि वालिद साहब को खत लिखना चाहिए कि बिल्ली रात को आई थी, चुनाञ्चे जल्दी से श्रीमतीजी ने हस्ब-ज़ैल (निम्न-लिखित) खत लिख दिया :

जनाब वालिद साहब,

तस्लीम।

रात को एक बिल्ली आई थी। उसने दो मुर्ग़ियों को ज़ख़्मी कर डाला। भाई साहब ने बिल्ली को तो बन्दूक़ से मार डाला और मुर्ग़ियों को जल्दी से ज़िबह कर लिया। आप इतमीनान रक्खें।

बाक़ी सब ख़ैरियत है। वालिदा साहेबा की ख़िदमत में दस्तबस्ता सलाम, फ़क़त्।

ख़ाकसार

—अनवर

चुनाञ्चे यह खत लिखकर सचमुच बन्द कर दिया गया, इस पाक-नीयत से, कि जल्द से डाक में डलवा दिया जायगा, और 'ब्रिज' खेला जाने लगा।

उधर भाभी-जान के सन्दूक़ में ताला था और कुञ्जी उन्हें मिल नहीं रही थी और इधर हमारा कमरा कोस-भर के फ़ासले पर! लेहाज़ा वालिदा साहेबा जो खर्च के लिए रुपये दे गई थीं, ५) रू० उसमें से श्रीमतीजी ने ले लिए और ५) रू० भाभी-जान ने ले लिए, कि अभी-अभी जब उठेंगे, तो ला कर पूरा कर देंगे।

'ब्रिज' घण्टों होता रहा। यहाँ तक, कि खाने का वक़्त आ गया, बल्कि खाना मेज़ पर लगा दिया गया। पहिले तो यह ख़्याल था कि अब

चलते हैं खाने और अब चलते हैं खाने; फिर भाई साहब ने कहा कि "ताश हर्गिज़ बन्द नहीं हो सकता और खाना यहीं खाना होगा।" चुनान्चे 'मुर्ग़-पुलाव' नहीं, बल्कि 'मुर्ग़-पुलाव' की प्लेटें और काँटे जीते हुए पत्तों के बराबर ही लगा दिए गए और वल्लाह! उसी शान से ताश जारी रहा। यानी इस तरह, कि न तो श्रीमतीजी के पत्ते भाभी-जान देख सकें और न किसी का कोई इक्का या 'तुरूप' वग़ैरह चोरी जा सके। खाना भी होता रहा और ईमानदारी से ताश भी!

खाना इसी तरह ख़त्म हुआ। शाम आई, रात आई, मगर ताश उसी तरह होता रहा। 'कस्टर्ड' की वजह से शाम को कुछ भी न खाया गया और न खाना अपने बस की बात थी। रात को कस्टर्ड इतनी चपट कर खाई गई कि दिल में उसकी तरफ़ से कोई आरज़ू और तमन्ना बाक़ी न रही, बल्कि नफ़रत के जज़बात पैदा हो गए! इसके बाद फिर ताश होता रहा, यहाँ तक कि सचमुच सुबह के दो बज चुके थे। तब कहीं जाकर ताश बन्द हुआ!

फिर जनाब हिसाब शुरू हुआ। भाभी-जान और भाई साहब ढाई रुपए जीते थे। श्रीमतीजी ने ढाई रुपए के बदले पूरे पाँच, जो तहवील से निकाले थे, वह कुल के कुल वापस भाभी-जान को देना चाहे, तो उन्होंने लेने से इन्कार किया। इस पर श्रीमतीजी ने कहा कि "बहन, हम कोई बेईमान तो हैं नहीं और मारे तो लेते नहीं हैं। ये पाँच रुपए हैं, इनमें से ढाई ले लो तुम, और ढाई सरकारी थैली में डाल दो वापस। कोई तुम्हारा जाती रुपया तो उसमें है नहीं। मैं ज़िम्मेवार उसकी!" फिर अलावा इसके, अभी तो ताश कल भी होगी! लेहाज़ा भाभी-जान ने रुपए ले लिए और हमारा पहिला दिन इस चहल-पहल और ख़ुशी-ख़ुशी कटा।

इस 'होम-रूल' को रात भर के लिए ख़त्म कर के हम लोग सो गए।

❦

तीन-चार रोज़ 'होम-रूल' के इसी तरह, जैसे आँख झपकते गुज़र गए! यह ज़माना हम दोनों भाइयों और उधर हमारी बीबियों में दर-असल हक़ीक़ी मोहब्बत और मेल-जोल क़ायम करने का बायस हो रहा था। श्रीमतीजी और भाभी-जान में लफ़्ज़ 'बहन' का इस्तेमाल इस क़दर ज़्यादा और बात-बात पर लफ़्ज़ 'मेरी' के साथ होता था, कि हम दोनों भाइयों को

शुबहा हो रहा था कि कहीं ये दोनों हम दोनों भाइयो की तरह सगी बहिनें तो नहीं हैं !

ताश में आम तौर से "नक़द, नक़द" अदायगी न होने की वजह से जो बदमज़गी के इमकानात थे, वह भी रफ़ू हो गए, क्योंकि 'सरकारी थैली' मौजूद थी, जिसके लिए दोनों बराबर को तहवीलदार और जिम्मेदार थीं और दोनों ही इसी थैली में से ले-ले कर 'नक़द' भुगतान कर रही थीं। क़िस्सा-मुख़्तसर यह, कि वक़्त किस आसानी से कट रहा था, सो बयान नहीं किया जा सकता। दिलफ़रेब घड़ियाँ थीं, जो गुज़र रही थीं !

मगर अर्ज़ है, कि दुनिया में .ख़ुश रहना भी एक ज़वाल है और फिर .ख़ुशी की घड़ियों को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ क़ायम रखना ग़ैर-मुमकिन !

शाम को अहमद ने कहा कि "साहब हम एक अव्वल लम्बर नुस्ख़ा नई तरह का पकाने का सीख कर आए हैं; पहिले वाले से भी बढ़िया अव्वल लम्बर !"

भाई साहब ने पूछा—"कैसा नुस्ख़ा, काहे का ?"

अहमद बोला—" 'कस्टल' का, बिलकुल नया नुस्ख़ा, अव्वल लम्बर !"

मैंने कहा—"तो बदतमीज़, तू पकाता है या यूँही 'मुन्ना-सा' और 'नन्हा-सा' कर रहा है ?"

भाई साहब बोले—"कल सुबह, तड़के, नाश्ता के बजाय कस्टर्ड' ही पकाओ; मगर याद रहे, कि पेट भर-भर के सब खाएँगे, और वक़्त पर !"

अहमद बोला—"सुबह तीन बजे से उठकर तय्यारी करना शुरू कर दूँगा और आप इधर हाथ-मुँह धो कर उठेंगे, उधर 'कस्तल' तय्यार !"

"यह, यह, बस, बस शाबाश"...भाई साहब बोले।

अहमद बोला—"मगर उसमें आध सेर बादाम पीस कर डाला जायगा।"

मैंने डाँट कर कहा—"चाहे तू अपना सर पीस कर डाल उसमें, हमें इससे कुछ बहस नहीं है हम सुबह तेरी 'कस्तल' ले लेंगे, तय्यार बिलकुल !

और जो खराब हुई,या कम पड़ी, तो हम तुम्हें .ख़ुदा दिखा देंगे। अब दफ़ान हो तुम यहाँ से और खेलने दो हमें ताश।"

रात को ताश जो खेलना शुरू हुआ है, तो ख़ातम हुआ सच-मुच सुबह के तीन बजे जा कर! बाज़ी हारने और जीतने के क़िस्सों पर बहस करते सोए और वह भी इस दर्जा बेख़बर हो कर, कि अव्वल तो सुबह उठने का वक्त वैसे ही क्या कम बढ़ गया था और जो कहीं आज सोने दिया जाता तो शायद हश्र के दिन की ख़बर लाते। मगर सचमुच गोया हश्र ही जो आ गया ६ बजे वाली गाड़ी से!!

बोखलाहट में श्रीमतीजी जाली की मसहरी पलङ्ग पर से साथ लिये उतर ही तो पड़ीं। भाभी-जान का बदहवासी में उधर यह आलम कि जल्दी में ऐनक जो लगाती हैं, तो उन्हें न तो नाक मिलती है और न कान!!

भाई साहब उछल पड़े थे और मैं फाँद पड़ा था पूरे ढाई फ़ीट ऊँची चारपाई से!!

श्रीमतीजी के होश ग़ायब थे, तो भाभी-जान के हवास गुम थे! मैं कुछ घबरा रहा था, तो भाई साहब चकरा रहे थे! मगर वालिद साहब और वालिदा साहेबा का .ख़ैर-मुक़द्दम (स्वागत-सत्कार) तो लाज़मी ही था!

भाभी-जान के कमरे का दर्वाज़ा खोला गया और खोलते ही श्रीमतीजी भाभी-जान के पीछे हो गईं और भाभी-जान ने भाई साहब की आड़ ढूँढो! शायद बतलाना न होगा, कि बन्दा दुबका हुआ था सबके पीछे!

दर्वाज़ा .खुला और वालिदा साहेबा और वालिद साहब ने हम लोगों के सलाम लिए। वालिदा साहेबा ने अपनी फ़र्माबर्दार बहुओं को गले से लगा लिया, मगर साथ ही बड़े तआज्जुब से आँखें फाड़ कर कहा, कि 'बाहर अण्डों के छिलकों का ढेर का ढेर कहाँ से आया?"

साथ ही वालिद साहब ने मुझसे सवाल कर ही तो दिया—"मुर्ग़ी की दुम कितनी निकल आई?"

इस सिलसिले में लाज़मी तौर से मेरी निगाह उस ख़त पर पड़ी जो श्रीमतीजी ने वालिद साहब को लिखा था ! पता लिखा लिफ़ाफ़ा सामने ही पड़ा था जिसमें बजाय उस ख़ूबसूरत मुर्ग़ी की 'दुम' के उसके 'दम' का ज़िक्र था ! लेहाज़ा वालिद साहब ने कहा, ख़त, और खत उठाया ही था, कि उन्हें ख़ाली शीशी देख कर पूछना पड़ा, कि हैं यह चूरन सब का सब कौन खा गया ?"

मगर इसका जवाब सुनने की मोहलत भी मिलती ! वालिदा साहेबा क्या देखती हैं, कि बावर्चीख़ाने के सामने ही अण्डों और बादामों के छिलकों का ढेर का ढेर लगा है, और बावर्चीखाने के अन्दर से आवाज़ आ रही है "खट-खट ! खट-खट !!" वालिदा साहेबा ने कहा—"यह क्या हो रहा है ?" बढ़ीं जो आगे, तो उनके सामने अहमद लगन के साथ अण्डों की सफ़ेदी के झाग बना रहा था ! दाहिने तरफ़ अण्डों और बादामों का पहाड़ उन्हें दिखाई पड़ा। उन्होंने तअाज्जुब से और घबरा कर पूछा "यह······यह क्या ?"

अहमद ने जवाब दिया "कर्स······कस्त···कस्तल।"

फिर इसके बाद क्या हुआ ? ख़ुदा बचावे ! क्या ज़माना था और क्या हम थे और कैसा हमें पढ़ने का शौक़ था। बग़ैर नाश्ता किए उसी दम हम दोनों भाई कॉलिज चल दिए, कोई घण्टा भर पेश्तर !

नोट—कॉलिज से वापस आने के बाद ऐसे फ़िज़ूल वाक़यात पेश आए, जो नाक़ाबिले-ज़िक्र हैं। लेहाज़ा उनको जाने ही दीजिए, क्योंकि इज्ज़त सब को प्यारी होती है !!

सन् २०१० ई० में एक हिन्दुस्तानी युवक, जिसके पूर्वज स्वराज्य से बहुत समय पहिले ब्रेज़िल (दक्षिण अमेरिका) के देश में बस चुके थे, अपने देश को लौटा। डेढ़-दो साल की यात्रा के बाद वह फिर ब्रेज़िल चला गया। वहाँ पहुँच कर उसने एक पुस्तक लिखी 'स्वराज्य से पचास वर्ष पीछे।' इस पुस्तक का अनुवाद दुनिया की हर एक भाषा में हो चुका है, परन्तु भारतवर्ष में उसके प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। निम्न लिखित निबन्ध उसी पुस्तक में से लिया गया है :

जब हमारा जहाज़ पटेलपुर (जिसे अङ्गरेज़ी राज्य में बम्बई कहते थे) के बन्दरगाह में प्रवेश कर चुका, तो मेरे हृदय में प्रसन्नता एवं उमङ्गों का एक तूफ़ान उठने लगा। अपने प्यारे देश की एक झलक ने मेरी आत्मा पर एक कँपकँपी-सी पैदा कर दी, और स्वदेश-प्रेम के भावों से पराजित हो कर मेरी आँखों में आँसू भर आए। समुद्र-तट पर स्फटिक का बना हुआ अत्यन्त सुन्दर और विशाल द्वार था, जिसके ऊपर दस झण्डे लहरा रहे थे। तिरङ्गा झण्डा, सब्ज़ झण्डा, सफ़ेद झण्डा, केसरी झण्डा, संक्षेप में यह, कि विभिन्न रङ्गों के झण्डे थे और सबके सब क़ौमी झण्डे माने जाते थे। काले रङ्ग के झण्डे को देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि ब्रेज़िल और दूसरे देशों में इसे शोक-चिह्न माना

जाता है। लेकिन पीछे मुझे बताया गया, कि यह शहीदों का क़ौमी झण्डा है, जिन्होंने अपने प्यारे देश के लिए भूख-हड़ताल करके अपनी जान दे दी थी। एक और भी झण्डा था, जिस पर कमल की तस्वीर थी, यह बङ्गालियों का झण्डा था। असल में स्वराज्य मिलने के बाद ही हिन्दुस्तान की क़ौमी पार्लमेण्ट में क़ौमी झण्डे और भाषा के विषय पर एक बहस छिड़ गई। अधिक सम्भव था, कि यह बहस एक भयानक गृह-कलह का रूप धारण कर लेती, लेकिन देश के नेताओं की दूर-दर्शिता काम आई और आपस में समझौता कर लिया गया था; और तब से हर हिन्दुस्तानी को यह हक़ प्राप्त हो गया कि वह अपना झण्डा अपनी इच्छा के मुताबिक़ बना ले और जिस भाषा को चाहे अपना ले। इसका एक परिणाम यह हुआ, कि कई लोग अदालतों में एक काग़ज़ के टुकड़े पर केवल कुछ एक आड़ी-तिर्छी लकीरें खींच कर ले जाते हैं, और हाकिम को इस नई ज़ुबान और लेख पर विचार करना पड़ता है। परन्तु जैसा, कि मैं आगे चल कर बताऊँगा, कि यह केवल बाहरी बातें हैं और इनका देश के प्रबन्ध और व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति पर कोई असर नहीं पड़ता है।

द्वार के बाहर एक आदमी अपने सामने क़लम-दवात और 'बही' रक्खे हुए एक चटाई पर बैठा था। मैंने अपना टोप उतार कर उसे प्रणाम किया, उसने मेरी ओर घूर कर देखा, फिर बोला—"तुम कहाँ से आए हो?"

"ब्रेज़िल से, यह मेरा पासपोर्ट है!"

"हम......तुम हिन्दुस्तानी हो?"

"जी हाँ!"—मैंने स्वदेशाभिमान से उत्तर दिया।

"तुम कितने दिन यहाँ ठहरना चाहते हो?"

कितना अजीब प्रश्न था, मैंने कहा—"मैं हिन्दुस्तानी हूँ और हिन्दुस्तान में ठहरने का मुझे पूरा-पूरा अधिकार है, चाहे छै महीने रहूँ, चाहे सारी आयु ही गुज़ार दूँ।"

"हम......यह बात नहीं, तुमने और तुम्हारे बाप ने सारी आयु हिन्दुस्तान से बाहर गुज़ार दी। तुम हिन्दुस्तान की सभ्यता और संस्कृति से अनभिज्ञ हो। तुम यहाँ छै महीने के लिए ठहर सकते हो।" उसने मेरे पास-

पोर्ट पर हस्ताक्षर करते हुए कहा—"इसके बाद ठहरने के लिए तुम्हें पटेलपुर के बड़े हाकिम से आज्ञा प्राप्त करनी होगी।"

मैंने रोष प्रगट करते हुए कहा—"मैं हिन्दुस्तानी हूँ, यह मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है।"

उसने मुस्कुरा कर कहा—"हर हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी नहीं हो सकता, क्या तुम चर्खा चलाना जानते हो?"

"नहीं।"

"तकली फेरना?"

"नहीं।"

"सूत की नटी चढ़ाना?"

"नहीं।"

"खड्डी का ताना बुनना?"

"नहीं।"

उसने व्यंग पूर्वक कहा—"और तुम अपने आपको हिन्दुस्तानी कहते हो, मुझे हर रोज़ तुम्हारे-जैसे चालाक आदमियों से पाला पड़ता है, जो यहाँ विदेशों से यात्रा करने आते हैं और अपने आपको हिन्दुस्तानी कहते हैं...हूँ! अच्छा, मुझे बताओ, क्या तुमने कभी अपने हाथ से अपना खाना पकाया है?"

"नहीं।"

"गुड़ खाते हो?"

"नहीं, हमारे ब्रेज़िल में गुड़ नहीं होता।"

"ब्रेज़िल में गुड़ नहीं होता?" उसने चीख कर कहा—"ओह! कितना वहशी और असभ्य होगा वह देश!"

वह प्रश्न पूछता जाता था और मेरे उत्तर उसी 'बही' में लिखता जाता था, फिर पूछने लगा—"क्या, तुम अपना पाखाना अपने हाथ से उठाते हो?"

अब चीखने की मेरी बारी थी—"कभी नहीं, हरगिज़ नहीं, केवल एक-दो बार, जब मैं बच्चा था।"

"मैं बचपन की बात नहीं करता।" उसने बही में लिखते हुए कहा—"बचपन में सभी मनुष्य हिन्दुस्तानी होते हैं।"

मैं इन विलक्षण प्रश्नों से तङ्ग आ गया था और इस सिड़ी आदमी से शीघ्र ही छुटकारा पाना चाहता था, वह मेरी ओर फिर घूर कर देखने लगा। मैंने उद्विग्न होकर कहा—"ईश्वर के लिए मुझे क्षमा करो और इस दरवाज़े के अन्दर जाने दो।"

उसने कहा—"अच्छा! तुम ईश्वर पर विश्वास रखते हो! यह एक बात तुम्हारे हक़ में है।" उसने यह बात भी बही में लिख ली और फिर कहा—"तुम शराब पीते हो?"

मैंने कहा—"हाँ, हमारे देश में यह आम प्रथा है, इसे बिना पिए खाना नहीं पचता।"

"खाना!" उसने कहा—"हाँ, खूब याद आया, तुम खाना भूमि पर बैठ कर खाते हो, या मेज़-कुर्सी पर?"

"मेज़ पर, छुरी-काँटों के साथ।"

"छुरी काँटों के साथ" उसने लिखते हुए कहा। फिर मेरी ओर देख कर बोला—"अपना सामान दिखाओ।"

मामूली-सा सामान था, उसने कुछ ही देर में देख लिया। एक सूट-केस के कोने में उसे कुछ छुरियाँ-काँटे मिल गये, उसने उन्हें उठा कर समुद्र में फेंक दिया—"यह क़ानून अदम तशद्दुद (अहिन्सा) की ज़द में आते हैं। अब तुम जा सकते हो!" उसने कहा।

जिस भारतवर्ष का हाल मेरे दादा मुझे सुनाया करते थे, न जाने वह अब कहाँ लोप हो गया था। मेरे दादा साम्यवादी थे और स्वराज्य से बहुत समय पहले अपने देश को छोड़ चुके थे। उन्हें अपने प्यारे देश को स्वतन्त्र देखने की अभिलाषा अन्त समय तक सताती रही। मेरे पिता तो खैर, आरम्भ से राजनैतिक विचार के नहीं थे, उन्हें राजनीति के बजाए कृषि से अधिक प्रेम था, इसीलिए उन्होंने कभी भारत आने की अभिलाषा नहीं की। जब मुझे भारतवर्ष देखने का इच्छुक देखा, तो कहने लगे अच्छा भाई, जाओ और अपने पूर्वजों के प्यारे देश की यात्रा कर आओ

परन्तु मैंने सुना है, कि अब समय बहुत पलट गया है, तुम अपने आपको वहाँ अज्ञात-सा अनुभव करने लगोगे।

हिन्दुस्तान में आकर सबसे विलक्षण बात जो मैंने देखी, वह यह थी, कि समाचार-पत्र कोई नहीं; असल में काग़ज़ न्यूनतम मात्रा में प्राप्त होता है, और वह भी हाथ का बना हुआ—स्यालकोटी काग़ज़, जो कचहरियों और अन्य सरकारी-मुहकमों के लिये भी पूरा नहीं होता और कई मुक़दमों के फ़ैसले इसी कारण महीनों तक रुके रहते हैं। जज के पास फ़ैसला लिखने के लिए काग़ज़ मौजूद नहीं; बेचारे पाठशालाओं में पढ़ाने वाले अध्यापक भोजपत्र तथा केले के पत्तों पर पुस्तकें लिखते हैं, और विद्यार्थी उनको कण्ठ कर लेते हैं।

हिन्दुस्तान में आकर मैंने देखा, कि प्रत्येक मनुष्य एक ही धर्म का अनुयायी है। मेरे दादा धर्म के बड़े विरोधी थे और कहते थे, कि भारत को स्वराज्य, इसीलिए नहीं मिलता कि यहाँ अनेक धर्मों के लोग रहते हैं, जो सर्वदा एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं और इसका नतीजा यह होता है, कि दूसरी जातियाँ हमेशा हमारे देश पर अपना अधिकार जमाए रखती हैं। परन्तु जब देश के सबसे बड़े महात्मा ने अपने आध्यात्मिक बल से स्वराज्य प्राप्त कर लिया, तो इसका एक परिणाम यह भी हुआ, कि देश से महात्मा जी की आध्यात्मिकता के अतिरिक्त, बाक़ी सब धर्म मिट गए। यह एक ऐसा कार्य था, कि बुद्धि से समझा नहीं जा सकता था। मैंने ग़फ़्फ़ाराबाद (जिसे पहिले पेशावर कहते थे) में एक बूढ़े मनुष्य से पूछा, जो मेरे दादा के समय का निकला, तो उसने डरते हुए मुझसे सारा हाल इस प्रकार कहा:

"बात यह है, कि हिन्दुस्तान को स्वराज्य प्राप्त हो जाने के पश्चात् सबके दिलों में महात्मा जी के अगम्य और अवतार होने का निश्चय हो गया। सबका ख़याल था, कि वह ईश्वर के भेजे हुए दूत हैं, जिनकी बात को टालना पाप है! महात्मा जी के पश्चात् उनके चेलों ने (जिन्हें हम सर्दार कहते हैं) इस मत का बहुत प्रचार किया। अब तो 'रास राजेन्द्र से कोह कृपलानी' तक, प्रत्येक मनुष्य इस मत का अनुयायी दिखाई देता है। अब हिन्दुस्तान में, न कोई हिन्दू है, न सिक्ख, न मुसलमान, न बुद्ध; बल्कि हर एक महात्मा जी का भक्त कहलाता है।"

सम्भवतः इसी कारण मैंने भारतवर्ष में मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारे कहीं नहीं देखे। ओह! आज अगर मेरे साम्यवादी दादा जीवित होते, तो इस दृश्य को देख कर उन्हें कितनी प्रसन्नता होती। हाँ, एक बात जरूर है, कि ग्रामों और नगरों में स्थान-स्थान पर इन मन्दिरों, मस्जिदों और गुरुद्वारों के बजाय, भव्य-भवन बने हुए हैं, इन्हें 'चर्खा-गृह' कहा जाता है और इनके अन्दर सायं-प्रातः दर्शनार्थियों का एक जमघट-सा लगा रहता है। 'चर्खा-गृह' के मध्य में सोने-चाँदी या किसी बहुमूल्य लकड़ी का बना हुआ चर्खा रक्खा होता है, जिसे लोग आकर बारी-बारी से घुमाते हैं और अपनी आत्मा को सान्त्वना देते हैं। चर्खा-गृह में लोग मानता मनाते हैं, चर्खे के पीर गण्डे और तावीज़ बेचते हैं। यह व्यापार ख़ूब ज़ोरों पर है। जैसे हमारे यहाँ ईसाई औरतें सोने और चाँदी के सुन्दर सलेब अपने गले में बाँधती हैं।

कई 'चर्खा-गृहों' में चर्खे और महात्मा जी की प्रतिमा साथ-साथ होती हैं और इनकी पूजा एक-सी ही होती है, पाठशालाओं और विद्यालयों में चर्खा चलाना अनिवार्य है। सबसे अच्छा चर्खा चलाने वाले के लिए 'चर्खाग' की उपाधि लेना आवश्यक है। मैंने एक 'चर्खाग' को देखा, जो बिहार विश्वविद्यालय में सब से प्रथम आया था। वह सिर के बल उल्टा खड़ा हो कर अपने पाँव के बल चर्खा चला सकता है। मैंने सुना है, कि हिन्दुस्तान में कई एक ऐसे आदमी हैं, जिन्हें चर्खा चलाने का इतना अभ्यास है, कि यदि उनके हाथ-पाँव भी बाँध दिए जाएँ, तो वह केवल आँखों की पलकों के ज़ोर से चर्खा घुमा लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों को प्रायः 'चर्खा-गृह' का अध्यक्ष या प्रान्त-पति बनाया जाता है।

विचार-परिवर्तन और राजनैतिक क्रान्ति से भी बढ़ कर हिन्दुस्तान में 'ग़िज़ाई-इन्क़लाब' को भारी स्थान प्राप्त है। हिन्दुतान की पचहत्तर प्रतिशत आबादी बकरी का दूध और खजूरें खा कर गुज़ारा करती है; और जहाँ बकरी का दूध और खजूरें प्राप्त न हों, वहाँ सन्तरे का रस पीया जाता है, यदि सन्तरे भी न मिलें, तो उपवास पर जीवन-निर्वाह किया जाता है। इस परिवर्तन से एक बहुत भारी लाभ यह हुआ है, कि मुल्क में लड़ाई-झगड़े जड़ ही से मिट गए। मेरा अपना अनुभव है, कि

बकरी का दूध नियमपूर्वक एक महीना तक पी लेने के बाद लड़ाई करने को जी ही नहीं चाहता। हाँ, .खुद-कशी करने की इच्छा ज़रूर होती है। किसान लोग गेहूँ, मकई सरसों आदि बोने के बजाय, केवल बकरियाँ पालते हैं; और हिन्दुस्तान के सबसे अधिक जन-संख्या वाले स्थान वह हैं, जहाँ खजूरें बहुत होती हैं, जैसे राजपूताना, सिन्ध और दक्षिण। काश्मीर और उसके आस-पास के स्थानों में जहाँ, न सन्तरे होते हैं न खजूरें, वहाँ कुछ-एक असभ्य जातियाँ आबाद हैं, जो या तो उपवास करती हैं या ज़र्दालू खा कर गुज़ारा करती हैं; लेकिन इसीलिए इन लोगों का हिन्दुस्तान में दाख़ला बन्द है।

हर सोमवार को 'मौन-दिवस' मनाया जाता है, उस दिन सारा हिन्दुस्तान चुप रहता है, कोई किसी से बात नहीं करता, लोग सङ्केतों द्वारा एक-दूसरे को दिल की बात समझाते हैं या स्लेट और पैन्सिल से काम चलाते हैं। घर के पालतू-पशु—कुत्ते, बिल्ली, तोते, मैना, घोड़े, गधे, बैल, बकरी—सभी के मुँह पर कपड़ा बाँध दिया जाता है, ताकि 'ख़ामोशी में खलल' न हो और 'मौन-व्रत' की पवित्रता में फ़र्क़ न आए।

मैंने हिन्दुस्तान में रह कर अनुभव किया, कि हिन्दुस्तानियों को अहिन्सा पर ऐसा अटल विश्वास है, कि जो कभी बदल नहीं सकता, लेकिन मुझे आश्चर्य तो इस बात का हुआ, कि इस बोदे और कमज़ोर विश्वास से हिन्दुस्तान की सभी समस्याएँ सुलझ गईं। मैंने अपने दादा के बूढ़े मित्र से पूछा—"हिन्दु-मुसलमान किस तरह एक हो गए और वह तीव्र प्रकृति के साम्यवादी, जो इस प्रकार के स्वराज्य के प्रबल विरोधी थे, वह कैसे इस 'अहिन्सा' की लपेट में आ कर अपना अस्तित्व मिटा बैठे?"

इस वयोवृद्ध ने मुस्कुराहट के साथ कहा—"यह एक लम्बी कहानी है! संक्षेप में यूँ समझो, कि अहिन्सा ने उन्हें नहीं मिटाया, वरन् वह स्वयम् ही मिट गए। बकरी का दूध पी-पी कर दो साल में हिन्दू-मुसलमान की तमीज़ तो .खुद-बख़ुद मिट गई। बाक़ी रह गए साम्यवादी, उनसे हम लोगों ने अदम-तावान (नामिल बर्तन) कर लिया। हमने उन लोगों को जान से नहीं मारा, क्योंकि किसीको जान से मारना अदम-तशद्दुद के प्रतिकूल है!

हाँ, हमने इतना जरूर किया, कि उनके जीवन से अदम-तावान कर लिया और वह भी बड़े प्रेमपूर्ण और प्यार से।"

मौन-दिवस

"वह कैसे ?"—मैंने पूछा।

"सीधी-सी बात है, हम हिन्दुस्तानी जब किसी से अदम-तावान कर लेते हैं, तो फिर हम उससे बात-चीत नहीं करते, न उसे कहीं नौकरी मिलती है, न बाजार में उसे कोई चीज ही मिल सकती है। परिणाम इसका यह होता है, कि कुछ ही दिनों में उसका दिमाग़ सीधा हो जाता है और या फिर वह आदमी भूखा-प्यासा मर जाता है। अदम-तावान के कारण हजारों साम्यवादी मर गए, अब कहीं ढूँढ़े से भी उनका पता नहीं चलता।"

"लेकिन यह तो हिन्सा है।" मैंने ज़ोर से कहा—"साफ़ हिन्सा है और क्या ?"

उस वयोवृद्ध ने इधर-उधर देखकर कहा—"आहिस्ता से बात करो, यदि किसी ने राह चलते सुन लिया, तो जिन्दगी भर का अदम-तावान कर दिया जाएगा।" फिर वह ऊँचे स्वर से कहने लगे—"क्यों जी इसमें हिन्सा क्या है ? हमने उन्हें क़ैद नहीं किया, फाँसी नहीं दी, उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया, हम पर हिन्सा का दोष नहीं लगाया जा सकता।"

हिन्दुस्तानियों ने अपने देश की हिफ़ाजत के लिए फ़ौज और पुलीस का रखना पसन्द नहीं किया। असल में इस देश के वातावरण में यह दोनों मुहकमे आवश्यक प्रतीत भी नहीं होते। यहाँ मैंने किसी को लड़ते-झगड़ते नहीं देखा, जज और वकील सारा का सारा दिन बेकार बैठे रहते हैं और तकली चलाते रहते हैं। कभी कोई दङ्गा-फ़साद नहीं होता। लोग एक-दूसरे से मिलते समय दोनों हाथ जोड़ लेते हैं और मुस्कुराते हैं। अगर किसी से किसी बात पर नाराजगी पैदा हो गई, तो उसे कुछ नहीं कहते, बल्कि स्वयम् उपवास करके प्रायश्चित कर लेते हैं। मुद्दत से कपड़े के कारखाने बन्द हो चुके हैं, और हाथ के बुने हुए कपड़े आवश्यकतानुसार पूरे नहीं होते, इसलिए लोग अध-नङ्गे रहते हैं। लोग भोग-विलास बिल्कुल पसन्द नहीं करते, उन्होंने अपने घरों से कुर्सियाँ, सोफ़े, ग़लीचे सब निकलवा कर जला डाले हैं! लोग ज़मीन पर सोते हैं, हमेशा सच बोलते हैं और दिन-रात ईश्वर का भजन करते रहते हैं। बाजारों में बकरियाँ 'में में' करती फिरती हैं।

स्त्रियों का मान करने में हिन्दुस्तानी सबसे बाज़ी ले गए हैं। यहाँ हर स्त्री को पवित्र समझा जाता है। प्रथा के तौर पर विवाह भी होते हैं। लेकिन क्या औरत, क्या मर्द, हर हिन्दुस्तानी ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करता है। पूछने पर पता चला, कि पिछले बीस वर्षों में सारे भारतवर्ष मे केवल छै बच्चे पैदा हुए। यदि भारतवासी ब्रह्मचर्य का इसी प्रकार पालन करते रहे, तो वह दिन दूर नहीं, कि जब सारे हिन्दुस्तान में एक भी बच्चा पैदा न हो सकेगा। अनुमान लगाया गया है, कि पिछले तीस सालों में हिन्दुस्तान की जन-संख्या एक-तिहाई कम हो गई है। अगर यही हाल रहा तो हो सकता है, कि अगली अर्ध-शताब्दी तक सारा हिन्दुस्तान निर्वाण-पद प्राप्त कर लेगा। जरा ध्यान दीजिए; कि 'रास राजेन्द्र' से लेकर 'क्रोह कृपलानी'

तक एक भी मनुष्य दिखाई न देगा। ठण्डे चूल्हे, सुन-सान बाज़ार और मेमयाती हुई बकरियाँ—कैसा नज़ारा होगा वह ? भारतवासी मुक्ति-प्राप्त करके बैकुण्ठ सिधार गए होंगे, देवतागण आकाश से पुष्प-वर्षा कर रहे होंगे, हैरानी तो यह है, कि इस अनोखे तथा निराले लोगों के देश पर दूसरे देश वाले आक्रमण क्यों नहीं करते ? हाल यह है, कि इनके पास न फ़ौज है, न शस्त्र, न कोई वायुयान, न जहाज़, सम्भवतः इसका कारण यह है, कि दूसरे देशों की जङ्गजू और असभ्य जातियाँ इस इन्तज़ार में हैं, कि कब ये हिन्दुस्तानी अपने ब्रह्मचर्य के कारण इस दुनिया से कूच कर जाएँ और फिर यहाँ आ कर इस ख़ाली और सोने के देश को आबाद करें, जो चीज़ थोड़े इन्तज़ार से और बग़ैर लड़ाई-झगड़े के मिल सकती हो, तो उसे ख़ून-ख़राबे से क्यों लिया जाए ?

दो साल की यात्रा के बाद मैं ब्रेज़िल वापस चला आया। मेरा दिल अपने देश से बहुत जल्द उकता गया—उस देश से, जहाँ कोई किसी से इश्क़ नहीं कर सकता, जहाँ लड़ाई-झगड़े नहीं होते, लोग बकरी का दूध पीते हैं और लँगोट बाँध कर प्रभु की पूजा करते हैं !!

रेल में टिकट के बग़ैर सफ़र करना सभ्यता के भी विरुद्ध है और क़ानून के भी; पर जब पैसा पास न हो, और सफ़र ज़रूर करना पड़े, तो क्या किया जाय? कुछ लॉरी वाले तो बड़े नेक-दिल होते हैं। वे लॉरी के बाहर लिख कर लटका देते हैं कि 'ग़रीबों के लिए मुफ्त', लेकिन रेल वालों के दिल में दया पैदा नहीं होती, कि कम से कम कवियों और साहित्यिकों के लिए तो सफ़र मुफ़्त हो जाए! क्योंकि लक्ष्मी से इन लोगों का हमेशा बैर रहता है, और इसलिए वे इस योग्य हैं, कि उनके सब काम किसी 'ख़ैराती-फ़ण्ड' से चलते रहें।

हम न कोई बड़े साहित्यिक हैं, न कवि; लेकिन हमारी गणना भी इसी गई-गुज़री श्रेणी में होती है, और अगर निर्धन या ग़रीब होना ही कवि या साहित्यिक होने का प्रमाण-पत्र है, तो यों समझिए, कि हम फिर 'विलायत-पास' हैं!

अपने इसी प्रमाण-पत्र की बदौलत एक बार जब हम तीसरे दर्जे के डब्बे में सफ़र कर रहे थे, तो हमारी जेब में न टिकट था, और न सिगरेट; वह तो भला करे भगवान उस देहाती साथी का, जिसके पास हुक़्क़ा और तम्बाकू था, वरना हमारी यात्रा इस तरह कटती, गोया हम किसी 'इबादतगाह' में बैठे हैं!

हमारा देहाती साथी बहुत बातूनी था। पहिले तो वह अपनी फ़सलों

की तबाही और पटवारी के अत्याचारों की बाबत बातें बताता रहा। फिर बोला—"आप क्या काम करते हैं ?"

अब हम न पटवारी, न ज़िलेदार, न इन्सपेक्टर-आबकारी, न चौकीदार! हमने घबड़ाहट में कह दिया कि "हम 'शायर' हैं।"

उसने फ़ौरन सवाल किया—"शायर क्या होता है ?"

हमने कहा—"जो शैर कहता है, यानी बैत *।"

देहाती की बाँछें खिल गई और उसने ज़रा आगे बढ़ कर कहा—"आप सायरी हैं, सायरी! फिर तो मज़ा ही आ गया; ज़रा 'हीर वारिस शाह'† तो सुनाएँ ?"

हमने अर्ज़ किया कि हमें 'हीर' याद नहीं।

चौधरी बोला—"न सही, 'मिर्ज़ा-साहिबाँ'‡ ही के दो बोल सुना दीजिए।"

हमने हुक्क़े का कश भरते हुए जवाब दिया—"देखो चौधरी जी, हम उर्दू में शैर कहते हैं।"

चौधरी सोच में पड़ गया, और एक क्षण बाद बोला—"गाड़ी में कहने में क्या हर्ज है ?"

हम अभी उसका कोई जवाब देने नहीं पाए थे, कि सामने की खिड़की से एक टी० टी० सी० डब्बे में घुसते दिखाई दिए और इनको देखते ही हमारा रङ्ग फ़क़ हो गया! टी० टी० सी० ने एक सिरे से टिकटों की देख-भाल शुरू कर दी, और हमने चटपट हुक्क़ा छोड़ कर अपनी सीट पर दोनों घुटनों के बल बैठ कर नमाज़ें-असर पढ़नी शुरू कर दी।

टी० टी० सी टिकट देखता हुआ हमारे पास से गुज़र गया और हमें तब ख़्याल आया, कि हमारा मुँह क़िबले के बजाय, पूर्व की तरफ़ है। हम नमाज़ पढ़ते गए, और इतनी आहिस्तगी के साथ, कि गोया एक-एक शब्द का मज़ा ले रहे हैं। हमने जब दाँई ओर सलाम फेर कर बाँए कन्धे वाले

---

* पञ्जाबी कविता के एक प्रकार के छन्द का नाम।

† वारिसशाह-कृत हीर-राँझा की छन्दोबद्ध प्रेम-गाथा।

‡ यह भी एक क़िस्सा है, जो पञ्जाबी भाषा की कविता में है।

फ़रिश्ते को अस्सलाम-आलेकुम कहा, तो देखा कि टी० टी० सी० सामने खड़ा है! इसने देखा कि हम सलाम फेर चुके हैं, तो हमारी तरफ़ बढ़ा। हम ताड़ गए कि वह सब मुसाफ़िरों की टिकटें देख चुका है और केवल हमारा ही इन्तज़ार कर रहा है। हमने जल्दी ही कानों तक हाथ ले जा कर 'अल्ला हो अकबर' और 'चार रक़अत (नमाज़ का एक हिस्सा) नमाज़ फ़ाल्तू' शुरू कर दी। अभी दो रक़अतें ख़तम हुई थीं, कि एक स्टेशन पर गाड़ी ठहरी और एक-दो मिनट के बाद फिर चल दी। हमें इतमीनान था, कि टी० टी० सी० वहाँ से उतर कर दूसरे डिब्बे में चला गया होगा; लेकिन जब हमने सलाम फेरा तो देखा, कि टी० टी० सी० अभी तक हमारे पास खड़ा है! हमारी नमाज़ ख़तम होते ही उसने कहा—"मौलवी साहब, टिकट!" यह सुन कर हमने फिर नमाज़ आरम्भ कर दी। परन्तु टी० टी० सी० भाँप गया कि मौलवी साहब बे-टिकट हैं! इसलिए उसने हमारी कुहनी को हाथ लगा कर कहा—"टिकट दिखा कर बाक़ी नमाज पढ़ लीजिएगा!"

बस हमारे लिए इतनी बात काफ़ी थी। हमने फ़ौरन हाथ छोड़ कर शोर मचा दिया, कि बाबू ने हमारे मज़हबी फ़र्ज़ की अदायगी में हस्तक्षेप किया! डब्बे के और मुसलमान भी यह सुन कर भड़क उठे और मुसाफ़िरों में जोश-सा फैल गया! इतने में गाड़ी एक बड़े स्टेशन पर ठहरी, प्लेटफ़ॉर्म पर दो-तीन सौ मुसलमान किसी लीडर को विदा करने के लिए आए हुए थे। हम इन्हें देख कर डब्बे से बाहर निकले और बाबू भी टिकट का मतालबा करता हुआ हमारे साथ आया। वह टिकट तलब करता था और हम अपनी रट लगाए जाते थे, कि काफ़िर ने हमारी नमाज़ में खलल डाला। हम-सफ़र भी पूरे जोश के साथ हमारा समर्थन कर रहे थे। इस पर प्लेटफ़ॉर्म के मुसलमान भी भड़क उठे, और हिन्दू टिकट-कलेक्टर को स्टेशन-मास्टर के कमरे में घुस कर अपनी जान बचानी पड़ी। लेकिन मुससमानों में अब काफ़ी जोश फैल चुका था और वावैला आग पर तेल का काम कर रहा था।

मुसलमान शोर मचा रहे थे, कि बाबू को बाहर निकालो, हम उसको जान से मार देंगे, लेकिन पुलिस ने उसे किसी दूसरे दरवाज़े से बाहर निकाल दिया। मुसलमान हमारे साथ स्टेशन के बाहर मैदान में पहुँचे और वहाँ एक जलसा शुरू हो गया! जिसमें कई आदमियों ने तक़रीरें कीं और

स्टेशन-मास्टर के ख़िलाफ़ प्रस्ताव पास करके माँग पेश की गई, कि वह टी० टी० सी० को मुसलमानों के हवाले करे। हमने भी एक तक़रीर की, जिसमें कहा कि "हम धार्मिक अधिकारों पर हस्तक्षेप होते देख कर सहन नहीं कर सकते,

टिकट दिखा कर बाक़ी नमाज़ पढ़ लीजिएगा।

इससे पहिले मरना पसन्द करेंगे।" हमारे एक-एक वाक्य पर "अल्ला हो अकबर" और 'ज़िन्दाबाद' के नारों से आसमान गूँज उठता था।

अभी जलसा हो ही रहा था, कि सामने से पुलिस के क़रीब पचास जवान आते हुए दिखाई दिए। उन्होंने जलसा करने पर तो कोई एतराज़ नहीं किया, लेकिन स्टेशन को चारों ओर से घेर लिया। इसके बाद एक साहब पुलिस-इन्सपेक्टर के साथ सभा-मण्डप में आया; मालूम हुआ कि सिटी-मैजिस्ट्रेट हैं। आपने संक्षेप में कुछ वाक्य कह कर मुसलमानों से सब्र और धैर्य रखने को कहा, और कहा; कि यदि आपके मज़हब की तौहीन की गई

है, तो आप आईनी (क़ानूनी) कार्रवाई कीजिए। अभियुक्त को क़ानून दण्ड देगा। यह कह कर सभा को तितर-बितर हो जाने के लिए कहा। यह मान लिया गया।

मुसलमानों ने सभा-मण्डप से जाना आरम्भ किया, और हमें एक सज्जन ताँगे पर बिठा कर अपने घर ले गए, जहाँ आधी रात तक गर्म जोश के मुसलमान आते रहे, और 'मुनासिब' कार्रवाई करने पर विचार होता रहा।

अगले रोज़ हमें जो शरारत सूझी, तो हम अपने मेज़बान का छोटा आईना (शीशा) ले कर सिटी-मैजिस्ट्रेट के अदालती-कमरे के सामने जा बैठे और जब मैजिस्ट्रेट साहब ने आकर अदालत शुरू की तो हमने शीशे को सूरज के सामने, ऐसे ढङ्ग से रख कर हिलाना शुरू कर दिया, कि जिससे उसकी चमक मैजिस्ट्रेट के मुँह पर पड़े। जब हमने आईने को दो-तीन बार हिलाया और हर बार मैजिस्ट्रेट की आँखें चौंधियाईं, तो उसने पुकारा—"चपरासी! चपरासी!! देखो यह बाहर कौन शरारत कर रहा है।" चपरासी बाहर आया, और हमें देख कर पुलिस को पुकारने लगा। पुलिस के एक सिपाही ने आ कर हमें बाज़ू से पकड़ लिया और कमरे में ले जा कर सिटी-मैजिस्ट्रेट के सामने पेश कर दिया। मैजिस्ट्रेट ने पूछा—"तुम यह क्या कर रहे थे?"

हमने कहा—"आईनी कार्रवाई।"

उसने फिर पूछा—"इससे तुम्हारा मतलब?"

हमने आईना मैजिस्ट्रेट के सामने रख कर कहा—"यह आईना है जब हम फ़ौज में थे, तो मैदाने-जङ्ग में इसी प्रकार के आईनी इशारों से बात-चीत किया करते थे। कल आपने मुसलमानों से कहा था, कि आईनी कार्रवाई करो। इसलिए यह आपके हुक्म की तामील है। इस शीशे के ज़रिए जो इशारा आप तक पहुँचा रहे थे, वह रोमन के अक्षर थे—बी, ए, बी, यू, अर्थात् बाबू। हम रेल के बाबू के सम्बन्ध में इन्साफ़ चाहते हैं।"

मैजिस्ट्रेट ने यह सुन कर गम्भीरतापूर्ण शब्दों में कहा—"तुम्हें अदालत की मान-हानि के जुर्म में केवल चेतावनी दी जाती है कि अगर फिर कभी ऐसा काम किया, तो सख़्त सज़ा दी जाएगी।

हम सज़ा का यह हुक्म सुन कर अदालत से निकले ही थे, कि मुसलमानों का भारी जमघट अदालत के बाहर मौजूद पाया। ख़ुदा जाने, इन्हें हमारे अदालत में पेश किए जाने का पता कैसे चल गया, कि वह फूलों के हार ले कर हमें जेल पहुँचाने के लिए आगए! हमने उन्हें सारा हाल सुनाया और वह हमें जुलूस में शहर की ओर ले चले।

जुलूस जामा-मस्जिद में पहुँचा और वहाँ धुआँधार तक़रीरें हुई जिनमें इस बात पर जोर दिया गया, कि स्टेशन के सामने सिविल नाफ़र्मानी (सत्याग्रह) की जाय लेकिन, इसी शाम को ज़िला मैजिस्ट्रेट की ओर से मुनादी करा दी गई, कि रेलवे-स्टेशन से हर तरफ़ पाँच पाँच सौ गज़ के फ़ासिले के अन्दर किसी भीड़ का दाख़िला, दूसरा हुक्म न निकलने तक, बर्जित है?

इस मुनादी का असर यह हुआ; कि रात को मस्जिद में फिर एक विराट सभा हुई, जिसमें यह फ़ैसला हुआ कि कल सुबह सिविल-नाफ़र्मानी की जाय और पहिले जत्थे के नेतृत्व के लिए हमारा नाम चुन लिया गया।

रात जब हम सोचने बैठे कि पहिले जत्थे के 'क़ायद' का 'हशर' क्या होगा, तो जेल की कोठरी, लाठी-चार्ज, फ़ायरिङ्ग, बन्दूक़, मशीनगन—ये तमाम चीज़ें हमारे मस्तिष्क में फिरने लगीं, और हम बेचैन हो गए! सोना चाहते थे, लेकिन नींद न आती थी। आख़िर आधी रात के समय चुपके-से उठे और भाग निकले! हम पैसों के बग़ैर किस तरह अपने शहर पहुँचे, यह एक अलग कहानी है; लेकिन इसके बाद हमने अपने कृपालुओं के शहर में पाँव नहीं रक्खा और इस मज़मून को पढ़ने से पहिले उन्हें पता न लग सकेगा, कि उनका 'भग्गू नेता' कौन था; कारण कि हमने वहाँ अपना नाम फ़र्ज़ी बताया था!

हम क़िस्मत के कुछ ऐसे धनी सिद्ध हुए हैं, कि जीवन का प्रत्येक अनुभव हमें हमेशा मँहगा पड़ा है !

मियाँ-बीवी का सिलसिला आप जानते हैं 'फ़ौलादी-रिश्ता' होता है, प्रायः जीवन में एक बार यह खेल खेला जाता है । फिर या तो जूए में 'वारे-न्यारे' या जीवन भर का जलापा !

जब हम कँवारे थे और पढ़ लिख कर फ़ारिग़ हो चुके थे, सारे देश में—दूर-दूर तक—विद्या और बुद्धि में कोई हमारी टक्कर का नहीं समझा जाता था, तब बिरादरी में हर लड़की वाले की नज़र हम पर थी ! हमारी स्वर्गीया माता जी अपने होनहार सुपूत को अक्सीर की तरह क़ीमती और जीवन-बूटी के बराबर अज़ीज़ रखती थीं । कहने में हर एक के मुँह में यही शब्द थे—"देखिए किसके हिस्से में आते हैं ।"

कई पढ़ी-लिखी लड़कियाँ देखने में आईं, परन्तु माता जी की नज़र में एक न जँची ! दो-एक जगह से तो दबी हुई ज़बान, यानी इशारों में हमारा मतालबा भी किया गया । लेकिन स्वर्गीया माता जी ने अपने उच्च लक्ष से उतरना पसन्द नहीं किया । एक कहावत है "जितना छानो उतना ही करकरा मिलता है ।" वही हमारे साथ हुआ ।

हमारे लिए दो बड़े घरानों की 'छान-फटक' हुई । कई चालाक बुढ़ियों ने अपने जाल फेंकने शुरू किए । आखिर एक 'बड़े घराने की' बुढ़िया की साजिश कामयाब हो गई !

हमारी प्रशंसा के पत्र वहाँ सुनाए जाते थे और 'उनकी' बड़ाइयों के पुल यहाँ बाँधे जा रहे थे । वह अच्छा घराना था, घराने के लोग भी

इज्ज़तदार और जागीरदार थे। माता जी के लिए इमारत और रूप के सिवा और कोई बात थी नहीं; हम चाहते थे, कि अपनी मँगेतर से पश्चिमी ढङ्ग का कोर्टशिप करके उसकी आदतों व .खूबियों का अनुमान लगाएँ, क्योंकि उम्र-भर का साथ है, ऐसा न हो, कि उनका और, हमारा स्वभाव अलग हो, मनोवृत्ति भिन्न हो, मगर तौबा कीजिए हमारी कौन सुनता था! हिन्दुस्तानी, फिर कट्टर घराने में लड़के-लड़की की राय पूछता कौन है? यह तो लॉटरी है या जूआ! पाँसा पड़ ही गया; तो पौ बारह, उलट गया तो लुट गया!!

एक बार उनके घर की नाइन से पूछा। वह उनसे कुछ ख़फ़ा थी, कहने लगी,—"ज़बान बहुत लम्बी है। किसी वक़्त ज़बान तालू से नहीं लगती, एक की सौ सुना कर दम लेती हैं और नौकरों पर जूती, लात का अमल रखने की आदी हैं, ग़ुस्सा नाक पर धरा रहता है; फिर किसीको ध्यान में भी नहीं लातीं, अभिमानिनी भी हद से ज़ियादा हैं।"

हमने यह सुना तो पाँव तले की मिट्टी निकल गई! सोचा, कि निभेगी कैसे? वह 'ग़ुस्सीली' हम 'ग़ुसयारे' वह ज़बान-दराज़, तो हम भी छोटी-मोटी ज़बान नहीं रखते! वह बात-बात पर लड़ती हैं, हम बे-बात भी लड़ने-मरने पर तैयार रहते हैं। फिर वह हसीन, हम बदशकल! धनी ख़ूबसूरती भी नहीं! उसे अपनी सूरत का घमण्ड, हमें अपनी विद्या-बुद्धि पर ग़ुरूर, उसके घर पैसा और हम 'राम आसरे', कैसे गुज़रेगी? यह सोच कर हमने माता जी से बड़ी हिम्मत कर के, यह राम कहानी सुनाई।

वह बोलीं—"बकने दे नाइन चुड़ैल को! मसख़री झूठ बोलती है, लड़की के मुँह में ज़बान ही नहीं। बात करती है, तो मुँह से फूल झड़ते हैं।"

हम—"लेकिन माता जी, अगर नाइन सच्ची निकली तो?"

माता जी—"मगर नाइन झूठी साबित हुई, फिर?"

हम माता जी से भला क्या झगड़ा करते, भाग्य पर भरोसा रख कर चुप हो गए।

ख़ैर से शादी हुई, तो पहले ही दिन हमने समझ लिया, कि जीवन का यह सबसे बड़ा अनुभव भी ग़लत निकला!

हमारी धर्मपत्नी जी के मुँह में ज़बान नहीं, यह तो, हम भी मानते हैं, क्योंकि ज़बान की जगह, वहाँ तेज़ धार वाली 'रॉजर्स' की क़ैंची है। घर

वालों की भी राय हो चुकी थी, कि नई बहुएँ चाहे कितनी ही बातूनी क्यों न हों, दस-बीस रोज़ तो बोला ही नहीं करतीं।

हमारी अर्धाङ्गिनी पढ़ी-लिखी भी थीं,'कमल नेत्र' 'हरी-हर' नाम के दो स्तोत्र तो ऐसे याद थे, जैसे 'मियाँ मिट्ठू' को! पढ़ गईं, "तोते गङ्गाराम पढ़, चटपट पञ्छी चतुर-सुजान, सब का दाता श्री भगवान!" दो स्तोत्रों के अतिरिक्त गणेश-जन्म की कथा, शिव जी का विवाह, सत्यनारायण-व्रत का माहात्म्य भी पढ़ी थीं! 'जनरल-नॉलेज' की जो बात पूछो, फर्र-फर्र सुना देती थीं। उदाहरण सुन लीजिए—बीरबल एक नाई का नाम है, जो अकबर 'बादशाह' की हजामत किया करता था। शिवा जी मरहट्टा और गुरु गोविन्दसिंह सगे भाई थे। लिबरल लीडर आपकी परिभाषा में वह व्यक्ति है, जो सगाई करवाने वाला हो! फ़िल्म में काम करने वाले श्री० सहगल और 'कर्मयोगी' तथा 'गुलदस्ता' सम्पादक श्री० आर० सहगल को आप एक ही समझती हैं, केवल यही नहीं; यू० पी० कॉङ्ग्रेस मिनिस्ट्री के प्रीमियर पण्डित पन्त और कहानी तथा नाटक-लेखक श्री० गोविन्द वल्लभ पन्त को भी एक ही समझती हैं। भूगोल-ज्ञान तो अद्वितीय ही समझिए! बातों-बातों में सी० पी० का ज़िक्र आ गया! फ़र्माने लगीं कैसी सी० पी० सीपी से तो मोती निकलते हैं। क्या अर्ज़ करूँ, बस 'प्रभु जी टेक राखें!' हाँ, एक Subject आप का ख़ास है, सेण्ट-परसेण्ट मार्क ले सकती हैं, वह यह, कि अपने गाँव की बिरादरी के हालात, शादी-ब्याह के कारनामें सुनाने के 'मूड' में आएँ, तो सुबह से शाम कर दें!

:

'सुहागरात' की कुछ ही बातें याद रह गई हैं, वह लिख देता हूँ। इसी से अनुमान लगा लीजिए, कि यह संसार हमारे लिए स्वर्ग है या, 'कुम्भी-पाक'?

धर्मपत्नी—जी—आपका धर्म क्या है?

हम—क्यों? हिन्दू हैं!

धर्मपत्नी—मैं कब कहती हूँ, कि तुम मुसलमान हो, हिन्दू तो हिन्दू, पर कौन से हिन्दू?

हम—कौन से हिन्दू से तुम्हारा क्या मतलब? मैं केवल हिन्दू हूँ।

धर्म०—तो मैंने क्या कहा, कि तुम हिन्दू नहीं ? पर पूछती हूँ; कि क्या तुम आर्यसमाजी तो नहीं ?

हम—आर्यसमाजी होने से हिन्दूपन नहीं रहता, क्या ?

धर्म०—तुम तो उल्टी बातें करते हो, आर्यसमाजी 'शुद्धि' करते हैं, 'शुद्ध' नहीं करते ! क्या तुम भी 'शुद्धि' करते हो ?

हम—नहीं, हमने आज तक कोई 'शुद्धि-उद्धि' नहीं की ।

धर्म०—तो सनातनी हुए ना, त्रिवेणी-सङ्गम पर स्नान करते हो न रोज़ ?

हम—सङ्गम पर नहाने का अब तक तो इत्तफ़ाक़ नहीं हुआ !

धर्म०—ठाकुर जी के मन्दिर में भी जाते हो ?

हम—नहीं, मैं कभी नहीं गया !

धर्म०—उई ! न सङ्गम पर 'स्नान' करने जाते हैं, न मन्दिर में जाते हैं, तो 'आख़र' करते क्या हैं, आप ?

हम—अच्छा, तुम ही बताओ, तुम क्या-क्या करती हो ?

धर्म०—मैं पाठ-पूजा करती हूँ, एकादशी का व्रत रखती हूँ । कभी नाग़ा नहीं होने दिया इसमें !

हम—हमारे यहाँ पाठ-पूजा की तो ख़ैर रही, पर एकादशी का हमेशा नाग़ा होता है और होता रहेगा !

धर्म०—हरे राम ! हरे, ऐसा करने से तो बड़ा पाप चढ़ेगा !

हम—पाप चढ़े चाहे ताप ! लेकिन यह एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और ऐसी कोई भी दशी, हमारे यहाँ कभी न होगी। न हमने व्रत रक्खा, न कोई रखता है !

धर्म०—कोई करे, न करे, हम तो हमेशा से करते आए हैं; अब भी करेंगे

हम—अपने मायके जा के करना, यहाँ ससुराल वाले तो करने नहीं देंगे !

धर्म०—ससुराल वाले कौन होते हैं, हमारे धर्म में टाँग अड़ाने वाले; सरकार तक ऐसा नहीं करती !

हम—कुछ हो, या न हो, ऐसी फ़िज़ूल बातों में दख़ल ज़रूर देंगे !

धर्म०—मुझे ज़िद न चढ़ाओ, नहीं तो कल ही एकादशी का व्रत रख लूँगी!

हम—अच्छा, जाने भी दो इन बातों को, कोई और बात करो?

धर्म०—अच्छा तो, यह बतलाओ, यह लड़का कौन है, जो उस समय तुम्हारे साथ था, और तुमने पैसे दिए थे, जिसे?

हम—हाँ! वह एक सम्बन्धी का लड़का है; बेचारा यतीम रह गया है, इसकी पढ़ाई का भार हम पर है।

मुझे ज़िद न चढ़ाओ, नहीं तो कल ही एकादशी का व्रत रख लूँगी!

धर्म०—वाह, या ख़ूब रही! कोई यतीमख़ाना है, हमारा घर? यह करो, किसी यतीमख़ाने में दाख़िल करा दो इसे! हम कहाँ तक इसका पूरा करेंगे?

हम—हमारी क्या ताक़त है, कि किसी का कुछ पूरा करें ! भगवान् इसके भाग्य का भी देगा ।

धर्म०—अच्छा, बुढ़िया की भी सुनाओ ।

हम—कौन बुढ़िया, माता जी ?

धर्म०—हाँ, माता जी ।

हम—इनकी क्या सुनाएँ ?

धर्म०—यह तो रहेंगी ही न, यहाँ ?

हम—निकाल दो ! यहाँ रख कर क्या करेंगे ? अब पाल-पोस कर बड़ा कर दिया, सारी उम्र सेवा की अब हमारा मतलब निकल चुका, इनकी ज़रूरत नहीं रही । चलता करो इन्हें भी !

धर्म०—नहीं, मैं यह तो नहीं कहती; यह बेचारी जाएँगी कहाँ ? कौन है इनका; लेकिन इतना तो करें, कि 'चर्खा-पूनी' ले कर बैठा करें, या तो दो रुपए महीना बाँध दो ! लेकिन यह रहें अपने बड़े बेटे के साथ; बड़ी बहू को इनकी कचर-कचर बातें सुनने की आदत होगी, मुझे तो नहीं है ! बड़ी बहू और मँझली बहू ही सुनें इनके चौबोले, मुझसे तो नहीं सुने जाएँगे ! ख्याल करो; कितने दिन और रातें हुई हैं ? फिर किसी के अच्छे में, न बुरे में; फिर मैं क्यों सुनूँ, सबके साथ गालियाँ ? जब बरसती हैं, तो गीला-सूखा सब बहा जाती हैं ! ईमान की बात है, कोई कब तक सुने ! हर एक दिल रखता है !! जब कोई सर पर ही चढ़ने लगेगा, तो दीवार में भी ज़बान पैदा हो जाएगी ? मँझली बहू 'कभी-कदा' एक-आध जवाब दे बैठती हैं । एक मैं हूँ, अव्वल तो मेरी आदत ही ऐसी है, कि चुपचाप सबकी सुनती रहती हूँ, अपनी नहीं कहती । माँ-बाप ने ऐसा ही सिखाया है । दूसरे नाना जी की नसीहत है, कि "शकुन्तला ज़बान पर ताला लगा लेना, जो कुछ सर पर पड़े झेलना, मगर मुँह से अच्छी-बुरी बात न निकालना !"

दीवार में भी ज़बान पैदा हो जाएगी

वह नसीहत न भी करते तो भी यही होता, मैके में कभी किसी ने किसी बात पर बोलते नहीं देखा । बचपन ही से चुप रहने की आदत है । नानी जी भी कहा करती थीं— 'शकुन्तला, तूने मौन व्रत क्यों रक्खा है ? बेटी मुँह से भी

कभी कुछ बोल लिया करो, नहीं तो अपनी बोली भी भूल जाओगी।' अम्मा जी से कहती रहतीं—'रामप्यारी,यह तेरी बेटी को आठ पहर चौसठ घड़ी चुप्पी क्यों लगी रहती है ? इसे क्या तकलीफ़ है, जब देखती हूँ ख़ामोश; जैसे होंठ सी दिए हैं, किसी ने !'

तो बात यह है, कि मैं, तुम जानते हो, जान ही गये होगे ! सुनती सबकी हूँ, मुँह से नहीं बोलती, क्या बोलूँ, मुझे तो बक-बक करने वाला आदमी एक आँख नहीं भाता। मगर राम जाने, तुम्हारी माँ के दिमाग़ में कीड़ा है, कि तीन बजे रात से सुबह और सुबह से बारह बजे रात तक बड़बड़ाती ही रहती हैं ! इनकी आठ पहर की झक-झक, बक-बक सुनते-सुनते मेरे तो कान पक गए ! हमारी जिठानी इनसे निभाएँगी, क्योंकि वह कह-सुन कर अपना दिल हलका कर लेती हैं, मेरा तो इनके साथ दो घड़ी भी निर्वाह कठिन है !

हम ये सब सुन-सुन कर सो गये और शायद हमारे सो जाने के बाद भी वे आध घण्टे तक अपने बेज़बान होने का सबूत देती रहीं ! हमारी बेज़बान बीबी की वाक्-शक्ति इतनी है, कि अगर तक़सीम की जाए, तो दो-चार 'व्याख्यान-वाचस्पति' बनाए जा सकते हैं ! परन्तु दिमाग़ में सिवा भूसे के, और कुछ नहीं है; वरना 'एलैक्शन' के दिनों में बड़े काम की चीज़ साबित होतीं आप !

महीना भर रहने के बाद हमें देहली आना था, छुट्टी भी ख़मत हो चुकी थी। धर्मपत्नी जी को मालूम हुआ, तो वह तय्यार हो गईं; हमने समझाया, कि तुम घर के बाहर नहीं निकली हो। देहली में मकान नहीं मिलता, मिला भी तो मँहगा मिलेगा, चीज़ मँहगी। तुम 'नई-नवेली' परिवार के साथ रहने की आदी, वहाँ घर अकेला, दिन भर क्या कव्वे हँकाओगी ? लेकिन जनाब इनकी ज़बान के आगे Spitfire की तेज़ी भी पानी भरती है ! चार घण्टे तक लगातार वह टर्राईं, कि आख़िर हमीं हारे और वह जीतीं, और इन्हें लादना ही पड़ा आख़िर !

दस रुपए का मकान किराए लिया, मकान था ज़रा ज़रूरत से ज़्यादा 'वेण्टीलेटेड', चमगादड़ों और कबूतरों से ख़ाली कराया और थोड़ी-बहुत मरम्मत करा कर रहने लायक़ बनाया। 'धर्मपत्नी महोदया' को

घर रख कर दूसरे रोज़ हम नौकरी पर गए। शाम को घर पलटे, तो दरवाज़े पर ही से टाँग पकड़ ली गई।

"झाड़ फिरे ऐसी नौकरी पर! जो सुबह से निकले तो शाम को घर में घुसे हो। मैं ऐसी नौकरी पसन्द नहीं करती, लो जी! मैं कहीं की आई-जगाई हूँ, कि श्रीमान् तो शहर भर में मटर-गश्तो करते फिरें, और मैं बैठी दिन भर कौव्वे हाँका करूँ। यह तो कहो, कि मुझे चुप रहने की आदत-सी हो गई है, वरना मैं तो आज पागल हो गई होती। देखो, मैं परदेश में इसलिए नहीं आई, कि अकेली बैठी हाड़ फूकती रहूँ। मेरे घर तार दे कर अम्मा जी को बुला लो!"

मैं बैठी दिन भर कौव्वे हाँका करूँ?

हम—हमने तो पहले ही तुम्हें समझाया था, लेकिन तुम किसी की कब सुनती हो?

धर्म०—हाँ, हाँ, नहीं सुनती; अच्छा हुआ नहीं सुनती? मेरी ज़बान मत खुलवाओ, नहीं तो अपना सर पीट लूँगी; वाह! मुझे लाकर अकेली को यहाँ डाल दिया, भरे-परिवार की रहने वाली! मकान निगोड़ा लिया है ऐसा, जिसकी छत चर-चर बोलती है! हर समय गिरने का ख़तरा!! तुम्हारा क्या है, तीन भाई हो, मैं तो सात बहनों पर बड़ी मिन्नतों-मुरादों से एक बची हूँ; ईश्वर न करे 'ऐसी-वैसी' हो गई, तो मेरी अम्मा का जीवन अजीर्ण हो जाएगा!

हम—"बहुत अच्छा, तार दिये देता हूँ। अच्छा है तुम्हारी अम्मा आ जाएँ"—यह कह कर पहिले दिन की लड़ाई तो टाल दी, घर के लिये महीने भर का सामान भी ख़रीद दिया।

जितनी देर हम घर में रहते, धर्मपत्नी जी की ज़बान 'पफ़' मशीन की तरह चलती ही रहती, विषय, अधिक घरेलु—झगड़े ही होते। इन्हें अपना घमण्ड था और हमें अपना! प्रायः मुक़ाबला हम दोनों के 'सौन्दर्य' का हुआ करता था।

देखो जी! तुम्हारे होंट मोटे हैं, मेरे पतले! तुम्हारे टेढ़े-तिर्छे और टूटे-फूटे हैं, मेरे दाँत देखो मोती की लड़ी! तुम्हारी नाक भद्दी और आगे से

मुड़ी हुई; जैसे मियाँ-मिट्ठू की चोंच और मेरी, जैसे तलवार की धार! तुम्हारी भवें मूसली मिटी-मिटी सी; मेरी देखो लम्बी, सियाह और खञ्जर की तरह तिरछी! तुम्हारी आँखें छोटी-छोटी उस पर चौकोर सीसे (शीशे) की ऐनक! 'बेनूरी' आँखें हैं; मेरी आँखें बड़ी चमकीली हैं और रसीली भी! तुम दुबले-पतले और मैं, न बहुत पतली न मोटी, सुडौल अङ्ग की हूँ! अलबत्ता तुम्हारी ज़बान बहुत चलती है और मेरी ज़बान को शुरू ही से चलने की आदत नहीं; ज़बान चलाने वाला तो बातूनी होता है?

हमने मुक़ाबला-हुस्न की यह सारी 'तक़रीर' चुपचाप सुनी और बैठे 'गुलदस्ता' पढ़ते रहे, क्योंकि यह 'सौन्दर्य-प्रदर्शनी' धर्मपत्नी जी ने खोल रक्खी थी, दूसरे हम दोनों के सिवा तीसरा कोई उम्मीदवार ना था, फिर हम भी तो बिना मर्जी के ज़बरदस्ती उम्मीदवार बना लिए गए थे! फिर प्रधानपद पर भी स्वयं धर्मपत्नी जी ही थीं। ऐसी अवस्था में जो नतीजा निकलना था, वही निकला!

एतवार का दिन नौकर पेशा लोगों के लिए छोटे-मोटे 'त्योहार' का दिन होता है! हम ज़रा बाहर निकले ही थे, कि आवाज़ आई—"किधर चली यह सवारी?"

हमने कहा—"कहीं नहीं, ज़रा बुक-स्टॉल तक हो कर आता हूँ।"

"वहाँ क्या है?"

"कुछ नहीं, मैंने सोचा दो घड़ी चल-फिर ।"

"जाना ही है, तो ज़रा बाज़ार तक हो आओ, बासमती चावल लेते आना दो सेर, और हाँ खुशबूदार हों चावल—कूड़ा-कर्कट न ख़रीद लाना!"

जब हम बाहर निकलते, तो बाजार में हमें कुछ शान्त वातावरण मालूम पड़ता! सिनेमा की मनादी वालों का शोर भी हमें अपने घर की 'चर्र-चर्र' से भला मालूम पड़ता! सीधे निकले और दो-एक दोस्तों से मिलने चले गए। शाम हुए घर आए। चावल लाना तो भूल गए थे हम; लेकिन आते-आते बुक-स्टॉल से "कर्मयोगी" का एक परचा साथ लाए थे। धर्मपत्नी जी को देखते ही चावल याद आए, पर अब क्या हो सकता था, 'होनी बीत चुकी थी।'

लाए चावल?

"लाए चावल ?" सावन की बिजली की तरह कड़कते हुए लहजे में पूछा उन्होंने।

"नहीं, अच्छे नहीं थे, बनिया मोल भी ज्यादा माँगता था!"

"और यह हाथ में क्या है आपके ?"—धर्मपत्नी जी ने पूछा।

"एक रिसाला है, हिन्दी का ! तुम्हारे ही लिए लाया हूँ, पढ़ोगी ?"

"कितने में लिया, यह रसाला?"

"दस आने......?"

हम अभी आगे कुछ न कह पाए थे, कि हमारी "अर्द्धाङ्गिनी' जी ने लपक कर हाथ से पत्रिका छीन ली !

"दस आने ! मैं क्या करूँगी इसे; किस काम का है यह मेरे; कैसी भोली शकल बना कर कह दिया, तुम्हारे लिए ?"

"अच्छा, न सही हम ही पढ़ लेंगे इसे; अब क्यों खाए डालती हो ?"

आग लगे तुम्हारे इस पढ़ने को। जब देखो, तब इन्हीं सच-झूठ के पोथों को लिए फिरते हैं, रसाला है ! यह फ़ौज है। इनमें होता क्या है आखिर ? यही न, आधा सच, आधा झूठ ! जाओ वापस कर आओ इसे ! हमें नहीं है, इसकी जरूरत। चावल महँगे नजर आए, और ये कितच्ची सस्ती ?"

"वापस नहीं हो सकती यह !"—हमने कहा !

"नहीं कैसे हो सकती; वापस करना होगा इसे; मैं चैन न लेने दूँगी। हाय ! क्या करूँ, वही बुरी घड़ी थी, जब माँ-बाप ने तुम्हारे हाथ में मेरा हाथ दिया ! मुझ 'नसीबों-जली' को मालूम होता, कि तुम 'रसाला' और 'तोपखाने' वाले हो, तो समूची कूएँ में छलाँग लगा देती और कभी तुम्हारे साथ न आती ! हम—(ठण्ढी साँस भर कर) वही घड़ी बुरी थी, जब तुम हमारी क़िस्मत में लिखी जा रही थीं !

धर्म०—" क्या कहा ?"

हम—"कुछ नहीं, कह रहा था, वही घड़ी बुरी थी जब मैं तुम्हारी क़िस्मत में लिखा जा रहा था।"

धर्म० —"ओ हो ! कितनी जल्दी जबान बदल ली, बस जबान ही चलानी आई और तो कुछ न करना आया ?"

हम—"इस हुनर में तो हम तुम्हारे शिष्य हैं।"

धर्म०—"अच्छा! तो मैं ज़बान-दराज़ हुई ना? क्या कहने तुम्हारे! अरे, दो दुआ मुझे! ज़बान ही तो कभी चलाई नहीं, कोई ज़बान चलाने वाली आती, तो श्रीमान् जी को दिन में तारे दिखाई देने लगते!"

हम—"जब से तुम नाज़िल हुई हो, हमें दिन को तारे और रात को सूरज नज़र आने लगा है!"

"नाजल हुई! नाजल!! फिर तो मैं कोई बला हुई, सच कहना मैं बला हूँ? डरते रहना किसी दिन, तुम्हें न चिमट जाऊँ! मैं क्यों बला होती, बला होगी तुम्हारी लगी-सगी; किसे खा लिया मैंने?"

हम—"हमें तुम खा लेतीं, तो बड़ा एहसान करतीं! इस रोज़-रोज़ की झक-झक, बक-बक से तो छूटते! अब तो न खाती हो और न छोड़ती हो। दिन ग़ुज़र जाता है, तो रात को ख़ैर मनाते हैं! रात निभ जाती है, तो दिन का डर रहता है!! तुम्हारीज़बान तो तूफ़ान मेल से भी तेज़ चलती है!!!"

धर्म०—"हाय रे! किसको कोसूँ, माँ जी से चुप रहने का वचन न दिया होता, तो मैं आज तुम्हें ज़बान चला कर ही दिखाती, क्या करूँ होंठ सी दिए गए हैं! यह तुम्हारी क़िस्मत है, कि मैं तुम्हारा लेहाज़ करती हूँ, नहीं तो इस तरह ज़बान खींच लेती तालू से! तुम मुझे समझे नहीं हो, बस न सताओ मुझे, नहीं तो पछताओगे! मेरा मुँह मत खुलवाओ, नहीं तो सात पीढ़ी उधेड़ कर रख दूँगी! माँ जी से चुप रहने का वचन दिया है; बस, वही याद आ रहा है रह-रह कर!!!"

इस तरह ज़बान खींच लेती तालू से

हम—"चुप न रहो, चुप रहना अच्छा नहीं होता। चुप रहते-रहते कहीं दिल की धड़कन न शुरू हो जाए, तुम्हारी माँ जी से मैं कह-सुन लूँगा! तुम एक बार अपनी 'भड़ास' निकाल लो, सचमुच कब तक होंठ सिए रक्खोगी तुम?"

धर्म०—"दफ़ा हो जाओ मेरी नज़रों से!

हम—"दफ़ा तो बाद में लगा लेना, अभी तफ़तीश तो पूरी कर लो !!"

इस चुभती हुई बात पर धर्मपत्नी जी की अधिक कोशिश के बाद भी उनके चेहरे पर मुस्कान आ ही गई। 'हँसा और फँसा' हमने इस मुस्कान का फ़ायदा उठाया और गुदगुदा दिया; इस तरह राम-राम करके यह बला टली ! भविष्य में, न जाने कब तक टली रहेगी। हम प्रार्थना करते हुए बैठे हैं, कि भगवान ऐसी धर्मपत्नी अकेले हमारे लिए ही बनाई है या इस चर्बे में ढली हुई और भी किसी की श्रीमती हैं ? जिसकी हों, वह कृपया 'गुलदस्ता' के पृष्ठों पर परिचय दें ! हमें इसीसे कुछ तो तसल्ली होगी !!!

क़ासिम सुबह सात बजे लिहाफ़ से बाहर निकला और गुस्लख़ाने की ओर चला। यह उसको ठीक तौर पर मालूम नहीं, कि रास्ते में, या सोने वाले कमरे में, या सहन में, या गुसलख़ाने के अन्दर, उसके मन में, यह इच्छा उत्पन्न हुई, कि वह किसी को उल्लू का पट्ठा कहे। बस, सिर्फ़ एक बार गुस्से में या व्यङ्ग के तौर पर किसी को उल्लू का पट्ठा कह दे!

क़ासिम के मन में इससे पहिले कई बार बड़ी-बड़ी अनोखी इच्छाएँ उत्पन्न हो चुकी थीं, मगर यह इच्छा सब से निराली थी ! वह बहुत ख़ुश था, रात में उसको बड़ी प्यारी नींद आई थी। वह अपने को बहुत तरोताज़ा महसूस कर रहा था, लेकिन फिर यह इच्छा कैसे उसके मन में पैदा हो गई ? दाँत साफ़ करने में उसने ज़रूरत से ज़्यादा वक़्त ख़र्च किया, जिसके कारण उसके मसूड़े छिल गए। दरअसल वह सोचता रहा, कि यह विचित्र इच्छा क्यों उत्पन्न हुई। मगर वह किसी नतीजे पर न पहुँच सका।

पत्नी से वह बहुत ख़ुश था। उनमें कभी लड़ाई नहीं हुई थी। नौकरों पर भी वह नाराज़ नहीं था। इसलिए, कि ग़ुलाम मोहम्मद और नबी बख़्श दोनों चुपचाप तत्परता से काम करने वाले परिश्रमी नौकर थे। मौसम भी बहुत अच्छा था। फ़रवरी के सुहावने दिन थे, जिनमें कुँवारपन की ताज़गी थी। वायु हलकी और भीगी थी। दिन छोटे, न रातें लम्बी। प्रकृति का सन्तुलन बिलकुल ठीक था और क़ासिम की तन्दुरुस्ती भी ख़ूब थी।

समझ में नहीं आया, कि किसी को अकारण उल्लू का पट्ठा कहने की इच्छा उसके मन में कैसे उत्पन्न हो गई ?

क़ासिम ने अपने जीवन के अट्ठाईस वर्षों में अनेक आदमियों को उल्लू का पट्ठा कहा होगा; और बहुत सम्भव है, कि इससे भी कड़े शब्दों का उसने किसी-किसी अवसर पर प्रयोग किया हो और गन्दी गालियाँ भी दी हों, मगर उसे अच्छी तरह याद था, कि ऐसे अवसरों पर ऐसी इच्छा बहुत पहिले उसके मन में उत्पन्न नहीं हुई थी; मगर अब अचानक ही उसने अनुभव किया, कि वह किसी को उल्लू का पट्ठा कहा चाहता है, और यह इच्छा प्रति क्षण प्रबल होती चली गई। मानो अगर उसने किसी को उल्लू का पट्ठा न कहा, तो बहुत बड़ा हर्ज हो जायगा !

दाँत साफ़ करने के बाद उसने छिले हुए मसूड़ों को अपने कमरे में जा कर आइने में देखा। मगर देर तक उनको देखते रहने से भी वह इच्छा न दबी जो एकाएकी उसके मन में उत्पन्न हो गई थी।

क़ासिम मन्तक़ी क़िस्म का आदमी था। वह बात के समस्त पहलुओं पर विचार करने का आदी था। आइना मेज़ पर रख कर वह आराम कुर्सी पर बैठ गया और ठण्ढे दिमाग़ से सोचने लगा—मान लिया, कि मेरा किसी को उल्लू का पट्ठा कहने को जी चाहता है...... मगर यह कोई बात तो न हुई......मैं किसी को उल्लू का पट्ठा क्यों कहूँ ? मैं किसी से नाराज़ भी तो नहीं हूँ......।

यह सोचते-सोचते उसकी नज़र सामने दरवाज़े के बीच में रक्खे हुए हुक़्क़े पर पड़ी। एकदम उसके मन में ये बातें पैदा हुईं। अजब वाहियात नौकर है, दरवाज़े के बिलकुल बीच में यह हुक़्क़ा टिका दिया है। मैं अभी इस दरवाज़े से अन्दर आया हूँ, अगर भरी हुई चिलम ठोकर से गिर पड़ती, तो मूँज का बना हुआ फ़र्श जलना शुरू हो जाता और साथ ही क़ालीन भी......!

उसके मन में आया, कि ग़ुलाम मोहम्मद को पुकारे और जब वह भागा हुआ उसके सामने आ जाय, तो वह भरे हुए हुक़्क़े की ओर इशारा करके उससे सिर्फ़ इतना कहे—तुम निरे उल्लू के पट्ठे हो ! मगर वह ठहर गया और सोचने लगा—यों बिगड़ना अच्छा नहीं लगता। अगर ग़ुलाम

मोहम्मद को अभी बुला कर उल्लू का पट्ठा कह भी दिया, तो वह बात पैदा न होगी और फिर...और फिर...उस बेचारे का कोई क़ुसूर भी तो नहीं है। मैं दरवाज़े के पास बैठ कर ही तो रोज़ हुक़्क़ा पीता हूँ।

अतः वह प्रसन्नता, जो एक क्षण के लिए क़ासिम के मनमें पैदा हुई थी, कि उसने उल्लू का पट्ठा कहने के लिए एक उपयुक्त अवसर खोज लिया, ग़ायब हो गई।

दफ़्तर के समय में अभी काफ़ी देर थी, पूरे दो घण्टे पड़े थे, दरवाज़े के पास कुरसी रख कर क़ासिम अपनी आदत के अनुसार बैठ गया और हुक़्क़ा पीने लगा।

कुछ देर तक वह बिना सोचे-विचारे हुक़्क़े का धूँआँ पीता रहा और धुँएँ के फैलाव को देखता रहा। लेकिन जैसे ही वह हुक़्क़े को छोड़ कर कपड़े बदलने के लिए साथ वाले कमरे में गया, उसके मन में फिर वही इच्छा नए उत्साह के साथ उत्पन्न हुई।

क़ासिम घबरा गया। भई, हद हो गई है—उल्लू का पट्ठा—मैं किसी को उल्लू का पट्ठा क्यों कहूँ ? और थोड़ी देर के लिए मान भी लो, कि मैंने किसी को उल्लू का पट्ठा कह भी दिया, तो क्या होगा ?...

क़ासिम दिल ही दिल में हँसा। वह स्थिर मस्तिष्क वाला आदमी था। उसे भली भाँति मालूम था, कि यह इच्छा, जो उसके मन में उत्पन्न हुई है, बिलकुल व्यर्थ और भद्दी है। लेकिन इसका क्या इलाज था, कि दबाने पर वह और भी अधिक उभर आती थी!

क़ासिम अच्छी तरह जानता था, कि वह अकारण उल्लू का पट्ठा न कहेगा; चाहे वह इच्छा सदियों तक उसके मन में तिलमिलाती रहे। शायद इसी भाव से उसकी इच्छा, जो भटकी हुई चिमगादड़ की भाँति उसके मन में चली आई थी, इतनी तड़प रही थी।

पतलून के बटन बन्द करते समय जब उसने मानसिक चिन्ता के कारण ऊपर का बटन निचले काज में डाल दिया, तो वह भल्ला उठा—भई होगा...यह क्या असभ्यता है ?......पागलपन नहीं, तो और क्या है ?... उल्लू का पट्ठा कहो—उल्लू का पट्ठा कहो—और पतलून के वे सारे बटन मुझे फिर से बन्द करने पड़ेंगे। कपड़े पहिन कर वह मेज़ पर आ बैठा।

उसकी पत्नी ने चाय बना कर प्याली उसके सामने रख दी, और टोस्ट पर मक्खन लगाना शुरू कर दिया। नित्य की भाँति हर चीज़ ठीक-ठीक थी। टोस्ट इतने अच्छे सिके हुए थे, मानो कुरकुरे बिस्कुट हों; और डबल रोटी भी बढ़िया थी ; ख़मीर में से ख़ुशबू आ रही थी ; मक्खन भी साफ़ था ; चाय की केतली बेदाग़ थी। उसकी मूँठ के एक कोने पर क़ासिम नित्य मैल देखा करता था। मगर आज वह धब्बा भी नहीं था।

उसने चाय का एक घूँट पीया। उसका चित्त प्रसन्न हो गया। ख़ालिस दार्जिलिङ्ग की चाय थी, जिसकी महक पानी में भी क़ायम थी। दूध की मात्रा भी ठीक थी।

क़ासिम ने ख़ुश हो कर अपनी पत्नी से कहा—"आज चाय का रङ्ग बहुत ही प्यारा है, और बड़े सलीक़े से बनाई गई है।"

पत्नी तारीफ़ सुन कर ख़ुश हुई, मगर उसने मुँह बना कर एक अदा से कहा—"जी हाँ, बस आज इत्तफ़ाक़ से अच्छा बन गई है, नहीं तो रोज़ आपको नीम घोल कर पिलाई जाती है!...मुझे सलीक़ा कहाँ आता है—सलीक़े वाली तो वे मुई होटल की छोकरियाँ हैं, जिनका आप हर वक़्त गुण-गान किया करते हैं!"

यह व्यङ्ग सुन कर क़ासिम की तबियत खिन्न हो गई। एक क्षण के लिये तो उसके मन में आया, कि चाय की प्याली मेज़ पर उलट दे और वह नीम की पत्तियाँ, जो उसने बच्चे की फुन्सियाँ धोने के लिये ग़ुलाम मोहम्मद से मँगवाई थीं और सामने बड़े ताक़ में पड़ी थीं, घोल कर पी ले। मगर उसने संयम से काम लिया। 'यह स्त्री मेरी पत्नी है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इसकी बात बहुत ही भौंडी है, मगर हिन्दुस्तान में सब लड़कियाँ पत्नी बनकर ऐसी ही भौंडी बातें किया करती हैं—और पत्नी बनने से पहिले अपने घरों में वे अपनी माँओं से कैसी बातें, सुनती हैं! बिलकुल ऐसी निम्न कोटि की बातें; और उसका कारण केवल यह है, कि स्त्रियों को साधारण जीवन में, अपनी हैसियत की ख़बर ही नहीं। मेरी पत्नी तो फिर भी ग़नीमत है, यानी सिर्फ़ एक अदा के तौर पर ऐसी भौंडी बात कह देती है, उसकी नीयत अच्छी होती है, कुछ स्त्रियों की तो यह आदत होती है, कि हर वक़्त बकवास करती रहती हैं।

यह सोच कर क़ासिम ने अपनी निगाहें उस ताक़ पर से हटा लीं, जिसमें नीम की पत्तियाँ धूप में सूख रही थीं और बात का रुख़ बदल कर उसने मुस्कुराते हुए कहा—"देखो, आज नीम के पानी से बच्चे की टाँगें ज़रूर धो देना। नीम घावों के लिये बड़ा अच्छा होता है!......और देखो, तुम मुसम्बियों का रस ज़रूर पीया करो।......मैं दफ़्तर से लौटते हुये एक दर्जन और ले आऊँगा। यह रस तुम्हारी तन्दुरुस्ती के लिये बहुत ज़रूरी है।"

पत्नी मुस्कुराई और बोली—"आपको तो बस हर वक़्त मेरी तन्दुरुस्ती ही का ख़याल रहता है! अच्छी भली तो हूँ, खाती हूँ, पीती हूँ, दौड़ती हूँ, गाती हूँ,......मैंने जो आपके लिए बादाम मँगा रक्खे हैं........ मैं आज दस-बीस आपकी जेब में डाले बिना न रहूँगी; कहीं दफ़्तर में बाँट न दीजिएगा!"

क़ासिम ख़ुश हो गया कि चलो मुसम्बियों के रस और बादामों ने उसकी पत्नी के बनावटी क्रोध को दूर कर दिया और यह बात आसानी से तय हो गई! दर-असल क़ासिम ऐसे मामलों को आसानी के साथ इन्हीं तरीक़ों से तय किया करता था, जो उसने पड़ौस के पुराने पतियों से सीखे थे और अपने घर के वातावरण के अनुसार उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन भी कर लिया था।

चाय पीने के बाद उसने जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाया और उठ कर दफ़्तर जाने की तैय्यारी करने ही वाला था, कि फिर वही इच्छा उत्पन्न हो गई। इस बार उसने सोचा—अगर मैं किसी को उल्लू का पट्ठा कह दूँ तो क्या हर्ज है—आहिस्ता से—बिल्कुल आहिस्ता से कह दूँ, उल्लू... ...का......पट्ठा......। तो मेरा ख़याल है, कि मुझे हार्दिक सन्तोष हो जायगा। यह इच्छा मेरे सीने पर बोझ बन कर बैठ गई है, क्यों न इसको हलका कर दूँ—दफ़्तर में।

उसको सेहन में बच्चे का कमोड पड़ा दिखाई दिया, यों सेहन में कमोड रखना सख़्त बदतमीज़ी थी, और विशेष कर उस समय, जब कि वह नाश्ता कर चुका था और ख़ुशबूदार कुरकुरे टोस्ट और तले हुए अण्डों का स्वाद अभी तक उसके मुँह में था......, उसने ज़ोर से आवाज़ दी—"ग़ुलाम मोहम्मद!"

क़ासिम की पत्नी, जो अभी तक नाश्ता कर रही थी, बोली—"ग़ुलाम मोहम्मद बाहर गोश्त लेने गया है, कोई काम है आपको उससे ?"

एक सेकिण्ड के अन्दर क़ासिम के दिमाग़ में बहुत-सी बातें आईं—कह दूँ यह ग़ुलाम मोहम्मद उल्लू का पट्ठा है और यह कह कर जल्दी से बाहर निकल जाऊँ। नहीं, वह ख़ुद तो मौजूद ही नहीं है। फिर बिलकुल बेकार है; लेकिन सवाल यह है, कि बेचारे ग़ुलाम मोहम्मद को ही क्यों निशाना बनाया जाय—उसको तो मैं हर वक़्त उल्लू का पट्ठा कह सकता हूँ!

क़ासिम ने अधजला सिगरेट गिरा दिया और पत्नी से कहा—"कुछ नहीं, मैं उससे कहना चाहता था, कि दफ़्तर में मेरा खाना डेढ़ ही बजे ले जाया करे तो अच्छा है।.........तुम्हें खाना जल्दी भेजने में बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ती है।"—यह कहते हुए उसने पत्नी की ओर देखा, जो फ़र्श पर उसके गिराए हुये सिगरेट को देख रही थी। क़ासिम को फ़ौरन अपनी भूल का अनुभव हुआ। यह सिगरेट अगर बुझ गया और पड़ा रहा, तो बच्चा रेंगता-रेंगता इधर आएगा और उसे उठाकर मुँह में डाल लेगा, जिसका नतीजा यह होगा, कि उसकी तबीयत ख़राब हो जायगी। क़ासिम ने सिगरेट का टुकड़ा उठा कर ग़ुस्लख़ाने की मोरी में फेंक दिया। यह भी अच्छा हुआ कि मैंने आवेश में आकर ग़ुलाम मोहम्मद को उल्लू का पट्ठा नहीं कह दिया। उससे अगर कोई ग़लती हुई है, तो अभी-अभी मुझ से भी तो हुई थी—और मैं समझता हूँ, कि मेरी भूल अधिक बड़ी थी।

क़ासिम स्थिर मस्तिष्क वाला आदमी था। उसे इस बात का अनुभव था; कि वह ठीक-ठीक सोचने विचारने वाला आदमी है। मगर इस अनुभव ने उसके अन्दर श्रेष्ठता का भाव कभी नहीं पैदा किया। यहाँ पर भी उसके स्थिर मस्तिष्क को ही इसका श्रेय था, कि वह अपने अन्दर श्रेष्ठता की भावना को दबा दिया करता था।

मोरी में सिगरेट का टुकड़ा फेंकने के बाद उसने बिला ज़रूरत सेहन में टहलना शुरू कर दिया। उसका मस्तिष्क दरअसल बिलकुल विचारहीन हो गया था!

उसकी पत्नी नाश्ते का आखिरी टोस्ट खा चुकी थी। क़ासिम को टहलते देख कर वह उसके पास आई और कहने लगी—"क्या सोच रहे हैं आप ?"

क़ासिम चौंक पड़ा—"कुछ नहीं,...कुछ नहीं,...दफ़्तर का टाइम हो गया क्या ?" ये शब्द उसके मुँह से निकले और दिमाग़ में फिर वही 'उल्लू का पट्ठा' कहने की इच्छा प्रबल हो उठी।

उसके मन में आया, कि पत्नी से साफ़-साफ़ कह दे, कि एक विचित्र इच्छा उसके मन में उत्पन्न हो गई है, जिसका न सिर है, न पैर ! पत्नी अवश्य हँसेगी और यह भी स्पष्ट है, कि उसको पत्नी का साथ देना पड़ेगा। अतः यों हँसी-हँसी में उल्लू का पट्ठा कहने की इच्छा उसके दिमाग़ से निकल जाएगी। मगर उसने ग़ौर किया—इसमें कोई सन्देह नहीं, कि पत्नी हँसेगी और मैं स्वयं हँसूँगा लेकिन ऐसा न हो, कि यह बात स्थायी मज़ाक़ बन जाय। ऐसा हो सकता है...हो, सकता है ! क्या ज़रूर हो जायगा ? और बहुत सम्भव है, कि अन्त में कोई कटुता पैदा हो जाय अतएव उसने पत्नी से कुछ नहीं कहा और एक क्षण तक उसकी ओर यों ही देखता रहा !

पत्नी ने बच्चे का कमोड उठा कर कोने में रख दिया और कहा—"आज सुबह आपके साहबज़ादे ने वह सताया है, कि ख़ुदा की पनाह ! बड़ी मुशकिलों के बाद मैंने उसे कमोड पर बिठाया। उसकी इच्छा यह थी, कि बिस्तर ही ख़राब करे......आख़िर लड़का किसका है !"

क़ासिम को इस तरह की चख़ पसन्द थी। ऐसी बातों में वह तीखे हास्य की झलक देखता था। उसने मुस्कुरा कर पत्नी से पूछा—"लड़का मेरा ही है, मगर...मैंने आज तक कभी बिस्तर ख़राब नहीं किया, यह आदत उसकी अपनी होगी।"

पत्नी ने उसकी बात का अर्थ नहीं समझा। क़ासिम को बिलकुल अफ़सोस नहीं हुआ, इसलिए कि ऐसी बातें वह सिर्फ़ अपने मन को ख़ुश करने के लिए किया करता था। वह और भी ख़ुश हुआ, जब उसकी पत्नी ने जवाब न दिया और चुप हो गई।

"अच्छा भई मैं अब चलता हूँ—ख़ुदा हाफ़िज़!" ये शब्द, जो नित्य ही उसके मुँह से निकलते थे, आज भी अपनी पुरानी सरलता से निकले, और वह दरवाज़ा खोल कर बाहर चल दिया।

चचा छक्कन.........

...अरे आना-आना ! ओ बुन्दू ओ इमामी ! अमाँ तुद्दू ! अरे भाई कल्लू ! किधर गए सब ? दौड़ कर आना, हाथ फँस गया !

पृष्ठ ११०

काश्मीरी गेट से निकल कर जब वह निकलसन पार्क के पास से गुज़र रहा था, तो उसे एक दाढ़ी वाला आदमी दिखाई दिया। एक हाथ में खुली हुई सलवार थामे वह दूसरे हाथ से इस्तिञ्जा कर रहा था। उसको देख कर क़ासिम के मन में फिर उल्लू का पट्ठा कहने की इच्छा उदय हुई। तो भाई यह आदमी है, जिसको उल्लू का पट्ठा कह देना चाहिए...... यानी जो सही मानों में उल्लू का पट्ठा है। ज़रा अन्दाज़ तो देखिए किस दिलचस्पी से ड्राई-क्लीन किए जा रहा है...जैसे कोई बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा हो...लानत है।

लेकिन क़ासिम ने जल्दी से काम न लिया, और थोड़ी देर ग़ौर किया—मैं इस .फ़ुट-पाथ पर जा रहा हूँ, और वह दूसरे फ़ुट-पाथ पर से, अगर मैंने ऊँची आवाज़ में भी उसको उल्लू का पट्ठा कहा, तो वह चौंकेगा नहीं, इसलिए, कि कमबख़्त अपने काम में बहुत बुरी तरह व्यस्त है। चाहिए तो यह, कि उसके कान के पास ज़ोर से नारा लगाया जाय और जब वह चौंक उठे, तो उसे बड़े शरीफ़ाना तौर पर समझाया जाय—क़िबला आप उल्लू के पट्ठे हैं। ......लेकिन इस तरह भी जैसा चाहिए, वैसा नतीजा न निकलेगा। अतः क़ासिम ने अपना इरादा बदल दिया।

इसी बीच उसके पीछे से एक साइकिल निकली। कॉलेज की एक छात्रा उस पर सवार थी। उसके पीछे बस्ता बँधा था, एकदम से उस लड़की की साड़ी फ़्री ह्वील के दाँतों में फँसी। लड़की ने घबरा कर अगले पहिए का ब्रेक दबाया, एकदम साइकिल सहित सड़क पर गिर पड़ी!

क़ासिम ने आगे बढ़ कर लड़की को उठाने में जल्दी से काम न लिया। इसलिए, कि उसने उस दुर्घटना की प्रतिक्रिया पर विचार करना शुरू कर दिया था। मगर जब उसने देखा, कि लड़की की साड़ी फ़्री ह्वील के दाँतों ने नोच डाली है, और उसका बॉर्डर बहुत बुरी तरह उनमें उलझ गया है, तो वह तेज़ी से आगे बढ़ा। लड़की की ओर देखे बिना उसने साइकिल का पिछला पहिया ज़रा ऊँचा उठाया, ताकि उसे घुमा कर साड़ी को फ़्रीह्वील के दाँतों मे से निकाल ले। संयोग ऐसा हुआ, कि पहिया घूमाने से साड़ी कुछ इस तरह तारों की लपेट में आई, कि उधर पेटीकोट की गिरफ़्त से बाहर निकल गई!

क़ासिम बौखला गया। उसकी इस बौखलाहट ने लड़की को बहुत अधिक परेशान कर दिया। ज़ोर से उसने साड़ी को अपनी ओर खींचा। फ़्री ह्वील के दाँतों में एक टुकड़ा अड़ा रह गया और साड़ी बाहर निकल आई।

लड़की का रङ्ग लाल हो गया था। क़ासिम की ओर उसने ग़ुस्से से देखा, और बोली—"उल्लू का पट्ठा!"

सम्भव है कुछ देर लगी हो, मगर क़ासिम ने ऐसा महसूस किया, कि लड़की ने चटपट, न जाने अपनी साड़ी को क्या किया और एक दम साइकिल पर सवार हो कर, यह जा—वह जा, नज़रों से ग़ायब हो गई।

क़ासिम को लड़की की गाली सुन कर बहुत दुःख हुआ। विशेष कर इसलिए, कि वह यही गाली ख़ुद किसीको देना चाहता था। मगर उसने ठण्ढे दिल से इस दुर्घटना पर विचार किया और उस लड़की को माफ़ कर दिया। उसने अपने मन में कहा—उसको माफ़ करना ही पड़ेगा, इसलिए, कि इसके सिवा और कोई चारा ही नहीं! स्त्रियों को समझना बहुत कठिन काम है, और उन नौजवान स्त्रियों को समझना तो और भी कठिन हो जाता है, जो साइकिल पर से गिरी हुई हों!

उस दिन घण्टाघर के पास श्रीयुत प्रेममूर्त्ति ने एक ऐसी सौंदर्य-मूर्त्ति देखी, कि उनके नेत्र, रंगीन चश्मे के पीछे होते हुए भी, उस चकाचौंध से तिलमिला उठे, और हृदय चारों खाने चित्त हो गया !!

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ठहरे एक कलाकार—वह कलाकार नहीं, जिसकी कला आप प्रीति-भोज के अवसर पर पानी के कुल्हड़ और रायते या मिठाई की प्यालियों की बनावट में देखते हैं। श्रीयुत् प्रेममूर्ति की कला काग़ज़ी कला थी। वे साहित्यिक अर्थ में कलाकार थे। गीत भी गढ़ते थे, कहानियाँ भी।

उन्हें आप देखते तो देखते ही समझ लेते—बतलाने की आवश्यकता न होती—कि यह व्यक्ति कलाकार है, या फिर है किसी की घरवाली !

केश-राशि घनी, घुँघराली। लंबे बाल पीछे लटके हुए। मुखड़ा चिकना-चुपड़ा। मूँछ का नाम नहीं—ब्लेड की दैनिक रगड़ से मैदान साफ़। चाल इठलाती हुई। पहनावा ढीला-ढाला। डील-डौल से ऐसा लगता, कि तौलने में उस बनिये का हाथ लगा है, जिसकी दूकान से डेढ़ सेर गुड़ लाने पर साढ़े तीन पाव ठहरता है।

फिर भी श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति नारी न थे। हाँ, नारी उनका प्रिय विषय अवश्य थी।

उसदिन उन्होंने घण्टाघर के पास जो सूरत देखी, उसकी उपमा नहीं मिल सकती थी। आज तक श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने जितनी कविताएँ और कहानियाँ लिखी थीं, वे उन्हें फीकी लगने लगीं। वे सोचने लगे, कि यह

सौंदर्य पहले देखने में आया होता, तो उनकी रचनाएँ उमर-खय्याम को मात कर देतीं। सौंदर्य की जितनी सूक्ष्म विवेचना वे अब, इस रूप-राशि को देखने के बाद, कर सकते थे, उतनी पहले नहीं कर पाये थे।

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को साहित्यिक प्रेरणा की सामग्री अनायास प्राप्त हो गई। वे चुपचाप उस युवती के पीछे हो लिये।

घंटाघर से होकर युवती कई जगह गई। श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति भी पीछे-पीछे लगे रहे। उन्हें उसका निवास-स्थान देखना था।

यद्यपि निवास-स्थान उतना सुन्दर न था, जितनी युवती थी, तथापि उसे देख कर श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को बड़ा संतोष हुआ। साधारण-सा मकान था। घर की नाली का पानी जहाँ गिरता था, वहाँ कुछ छोटे-मोटे पौदे यों ही उग आए थे। वे श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को नंदन-वन के एक छोटे कुंज-सरीखे लगे।

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति रात होने पर, जब सड़क सुनसान हो जाती थी, बहुधा उधर तशरीफ़ ले जाते थे और अवसर देखकर द्वार को उस सीढ़ी को हलके हाथ से छू आते थे, जिस पर कोमल चरण रख कर युवती ऊपर जाती थी।

समालोचकों को अब श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति की रचनाओं में नवीन अनुभूति तथा प्रगाढ़ सहृदयता का आभास मिलने लगा था।

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को वह अपूर्व सुन्दरी और भी कई बार यहाँ-वहाँ आती-जाती देखने को मिली। उन्होंने सदैव अप्रकट रूप से उसके साथ यथासंभव अधिक से अधिक समय तक रहने की चेष्टा की। श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति जब निकलते तो ऐसे स्वर्ण-अवसर की खोज में रहते और अक्सर केवल इस खोज के लिए ही निकलते भी।

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति अनीश्वरवादी थे, किन्तु फिर भी सोचते थे, आकर्षण की इस पुतली को बनाने में ईश्वर ने हद कर दी है!

वह जब मिलती, तब हमारे कलाकार महोदय उसके पीछे फिरने लगते! परन्तु, थे भले आदमी, ऐसी सफ़ाई से साथ करते थे कि कोई भाँप न पाता। स्वयं युवती को भी किसी तरह का शक करने की गुञ्जाइश नहीं रहती थी। चोरी खुल जाती तो कलाकार को सौंदर्य-मधु-पान से भविष्य के लिए वंचित हो जाना पड़ता और युवती के मुँह से दो चार खरी-खोटी सुननी पड़ती; वह अलग।

इसलिए, एक तो वे चलते समय उसके और अपने बीच में उचित दूरी बनाए रहते थे; दूसरे यदि वह किसी दूकान में जाती थी, तो आप पहले कोई अच्छा बहाना सोच लेते थे, तब अन्दर पैर रखते थे।

लेकिन एक बार बेचारे चूक गये। उधर सुन्दरी दूकान में गई, इधर आप भी पहुँचे और तुरन्त दूकानदार से बड़े रोब के साथ बोले, "एक सेफ्टी-रेजर चाहिए। पहले मुझे दिखला दीजिए। जल्दी है।"

"महाशय, यह होजियरी की दूकान है," दूकानदार ने नम्रता-पूर्वक कहा।

सुन्दरी ने श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को शायद पहली बार सिर से पैर तक देखा और उसके पतले ओठों पर एक अर्ध-प्रकट मुस्कान चमक गई।

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने इस बार सोचने में जल्दबाज़ी से काम लिया था, नहीं तो उन्हें झेंपना न पड़ता और वे सामान देखने की आड़ में सुन्दरी का पूर्ण दर्शन करने से हाथ न धोते। पर, खैर!

यही एक चूक हो गई, वर्ना इन मामलों में श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति बड़े कुशल थे। उस बार युवती, जब एक न जाने, किस मकान की बैठक में जाकर बैठी तो आप भी धड़धड़ाते हुए जा पहुँचे और बोले, "यहाँ कहीं कोई बाबू अमुक प्रसाद रहते हैं?"

मकान वाले ने पूछा, "कौन बाबू अमुक प्रसाद?"

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने बतलाया, "कायस्थ हैं।"

"क्या काम करते हैं?"—आदि कई ऐसे ही प्रश्न हुए और श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने सब का समाधान किया।

कहीं कोई अमुक प्रसाद होते तब तो मिलते? वे तो हमारे कलाकार की उर्वरा कल्पना की उपज मात्र थे!

और इस प्रकार बहाना बनाकर सुन्दरी का छवि-पान, चाहे वह शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से ही रहा हो, करने का क्रम चलता रहा।

क्या पता, इस बीच श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति का कैसा चित्र उस सुन्दरी युवती के मस्तिष्क पर खिंच गया था? उसे कोई संदेह हुआ या नहीं, यह भी कुछ नहीं कहा जा सकता।

उस दिन युवती ने अपने निकट ही श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को एक झोले में

हाथ डालकर कुछ टटोलते हुए देखा, तो शायद सोचा था, कि महाशय का कुछ खो गया होगा।

पर, उसका सोचना ग़लत था। उसने 'क्लिक्' की आवाज़ पर ध्यान दिया होता तो संभव था कि उसके कान खड़े होते। वास्तव में वह शटर के खुलने की अवाज़ थी और झोले में केमरा था!

यदि उसने 'क्लिक्' की आवाज़ पर ध्यान दिया होता······

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने झोले में एक ओर इसी प्रयोजन से गोल छेद कर रक्खा था।

फ़ोटो खिंच तो अवश्य गई; किंतु, खेद का विषय था कि उसमें सुन्दरी की नाक के नन्हें छिद्रों के ऊपर का सारा भाग दृश्य के बाहर हो गया था! और शेष फ़ोकस के बाहर था।

कोई हर्ज नहीं, अभी और भी अवसर थे।

पर, प्रेममूर्त्ति महोदय ने अचानक एक दिन देखा कि युवती का रूप-रसास्वादन करने वाले अब वे अकेल नहीं रह गए। एक हिस्सा बटाने वाला और न जाने कहाँ से, पैदा हो गया। फूल की महक को नये भ्रमर को आमंत्रित करने में क्या देर लगती?

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने देखा, कि उन्हीं की भाँति, वह दूसरा नवयुवक भी कभी-कभी सौंदर्य की उस आँधी का पीछा करने लगा, घास के तिनके-जैसा। उनका सन्देह धीरे-धीरे दृढ़ हो गया और वे सतर्क हो गए।

एक म्यान में दो तलवारें! यह बात हमारे कलाकार को खल गई।

क्या यह दूसरा पीछा करने वाला युवक भी कोई कवि या कहानीकार था? क्या उसे भी 'प्रेरणा' की आवश्यकता थी?

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को विश्वास हो गया, कि यह नवयुवक दुश्चरित्र अवश्य है। सभी श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति की भाँति पवित्र उद्देश्य वाले तो हो नहीं सकते!!

कलाकार ने अपने हृदय में एक ईर्ष्या की आँच का अनुभव किया। शायद साहित्यिक प्रेरणा-प्राप्ति की दुनिया में भी, प्रेम की दुनिया की तरह ही, प्रतिस्पर्द्धा का व्यापार चलता है।

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति अपने नए प्रतिद्वन्दी से मन ही मन बुरी तरह जलने लगे। कभी-कभी वे सौंदर्य को भी कोसते थे—बुरा हो तेरा! जहाँ तेरी लालटेन टिमटिमाती है, वहाँ पतिंगों का आना अनिवार्य है।

हमारे कलाकार से अपने प्रतिद्वन्दी युवक के मुख पर थिरकने वाली दुश्चिंता छिपी न थी। उनकी पैनी दृष्टि ने ताड़ लिया, कि यह दुश्चिंता कुछ तो प्रेम के रोग की देन है, कुछ ईर्ष्या-जनित है।

यह ठीक भी था कि नवयुवक को ज्ञात हो गया था कि श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति उसके मन की प्रेयसी का पीछा करते हैं; क्योंकि उस दिन जब वह युवती पार्क में एक बेञ्च पर जा बैठी और श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति उसके बाद एक दूसरी बेञ्च पर जा विराजे थे, तो उस नवयुवक ने एक तीसरी बेञ्च पर दखल कर लिया था, और वह बार-बार सिर मोड़-मोड़कर, सुन्दरी के अतिरिक्त श्रीयुत प्रेममूर्त्ति को भी देख लिया करता था।

तो उसके मुख पर स्पष्ट खिन्नता के मूल में ईर्ष्या ही थी क्या? कुछ भी रही हो, चाहे यह, या प्रेम की पीड़ा, श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को उस नादान नवयुवक के दुःख से सहानुभूति थी।

संभवतः साहित्यिक उद्देश्य का सौंदर्य-प्रेमी अपने किसी भी प्रतिद्वन्दी को 'बेचारा' कह सकता है। श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने अपने मन में यह कहा था, पर उन्हें भय था, कि कहीं युवक इसी फेर में पागल न हो जाय।

स्वयं पागल हो जाने का भी भय हमारे कलाकार को था, या नहीं इसका कुछ निश्चित निर्णय नहीं हो सकता।

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को अब वह स्वाधीनता नहीं रही। अब वे निश्चिंत होकर खुले रूप में युवती का पीछा नहीं कर सकते थे। हिचकने की नौबत आ गई थी। अब उस पीछा करने वाले नंबर दो का भी विचार करना पड़ता था और विशेष सावधानी रखनी पड़ती थी।

रह-रहकर उस पर प्रेममूर्त्ति को क्रोध आता था, पर, वे पी जाते थे, शायद इसलिए, कि उनका अपना उद्देश्य निरा साहित्यिक था। वे वैसे प्रेमी होते तो अपने प्रतिद्वन्द्वी को शायद कच्चा चबा डालते, या फिर कम से कम साहबों की भाँति उसे 'डुएल' के लिए जरूर ललकारते।

पर संतोष की भी सीमा होती है। जब होता था तभी वह युवक आ जाता था और श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति की दर्शन-पिपासा शांत करने के अवसर कम हो जाते थे। विचित्र बाधा थी! किन्तु श्रीयुत प्रेममूर्त्ति पीछे हटने वाले जीव न थे। उनके दिल में लगी हुई प्रेम की आग में ईर्ष्या की भावना ने घी का काम किया। शायद मनुष्य के प्रेम को सब से अधिक उत्तेजना प्रतिद्वन्द्विता से मिलती है।

संभवतः युवक भी अपनी धुन का पक्का था, सौंदर्य का सच्चा उपासक था। शायद ही कभी ऐसा हुआ हो, कि युवती श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति की पहुँच में रही हो और वह युवक कहीं आस-पास न चक्कर लगाता रहा हो। वह हर जगह उपस्थित मिलता था, बाग़ होता, या बाज़ार!

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति तंग आ गए थे। वे अपने कार्य-क्रम में यह गड़बड़ी आख़िर कब तक सह सकते थे?

अंततः एक दिन कलाकार ने तै कर लिया कि नवयुवक को एकांत में एक चेतावनी दे देनी चाहिए, स्पष्ट रूप से कह देना चाहिए, कि यह ठीक नहीं।

हमारे कलाकार से वह युवक स्वास्थ्य-शक्ति में कम न था। पर, कलाकार को हाथा-पाई की नौबत आने की आशा न थी; एक तो इसलिए, कि भले आदमी इन मामलों में केवल मुँह से काम लेते हैं, दूसरे यह बात भी कलाकार को ज्ञात थी, कि चोर के मन में साहस नहीं होता। विश्वास था कि दूषित भावना का युवक अधिक चीं-चपड़ न कर सकेगा, इज्ज़त बचाने के लिए चुपचाप नौ-दो ग्यारह हो जायगा और लानत-मलामत कर देने से आगे के लिए रास्ता भी साफ़ हो जायगा।

इसलिए, उन्होंने एक दिन अवसर देखकर अपने दाल-भात के मूसलचंद को गली के मुहाने पर रोका। सुन्दरी आगे निकल गई थी।

नवयुवक ठिठक कर ठहर गया।

"आप से काम है। ज़रा दो मिनट के लिए इधर आइए", श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति बोले और युवक को गली में ले गए। शायद ऐसा उन्होंने कला के लिए किया था। शायद उनके मन में प्रेम की जलन न थी। वे युवक को सहूलियत और सहारे से समझाना चाहते थे। कठोरता बरतने से—श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को डर था—वह युवक सहसा युवती के प्रेम से एकदम निराश होकर विष-पान से अथवा किसी अन्य प्रचलित तरीक़े से आत्महत्या कर सकता था।

इसलिए, उन्होंने एक दिन अवसर देखकर...

"आपकी अवस्था अभी अधिक नहीं है," श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने घोषणा की, "आपको संसार के अनुभव नहीं।"

युवक कुछ न बोला।

"आप भले आदमी के लड़के जान पड़ते हैं," श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति के उपदेशों का क्रम आगे बढ़ा, "आप जानते हैं, कि समाज में इज्ज़त है तो सब है।"

युवक ध्यान से सुन रहा था।

श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने उसे बहुत ऊँचा-नीचा समझाया, कहा, "किसी भले घर की महिला को बीच बाज़ार में घूरना, या जब हो तब, बेचारी का पीछा करना सभ्यता की बात नहीं है। यह भलेमानसों को शोभा नहीं देता।"

"जी हाँ, जी हाँ," युवक ने छूटते ही कहा, "यही तो मैं भी कहता हूँ।"

परन्तु, उसके कहने के कोई अर्थ न थे, क्योंकि हमारे कलाकार का अपना उद्देश्य केवल अध्ययन था—कला का अध्ययन।

"यदि कोई किसी बेचारी को इस प्रकार तंग करता है तो उस अबला को कैसा लगेगा ?" प्रेममूर्त्ति ने प्रश्न किया। "बहुत बुरा," युवक बोला।

"जब आप इतना समझते हैं, तो स्वयं यह भी सोच सकते हैं, कि ऐसी स्थिति में वह स्त्री अपने घर में शिकायत कर सकती है और उसका पति कोई कड़ी कार्रवाई भी कर सकता है ?" श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति ने कहा।

"हाँ, यह तो है ही !"

युवक को अविचलित देखकर हमारे कलाकार ने समझा-बुझा कर काम चलाना चाहा। नम्रतापूर्वक कहा, "किसी को पराई स्त्री के लिए अपने मन में कोई बात न लानी चाहिए। यह बुरी बात है। पाप है। कोई किसी महिला को क्यों छेड़े ?"

"जी, यही बात तो मैं चाहता हूँ," युवक के कथन में एक चुटकी थी, एक गुप्त संकेत, जो हमारे कलाकार की ओर था। श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति समझ गये। युवक प्रेममूर्त्ति को दोषी ठहराना चाहता था और प्रेममूर्त्ति उसे। ये चाहते थे, कि वह रास्ते से हट जाये और वह चहता था, ये हट जायें।

युवक का यह अशिष्ट उत्तर सुनना था, कि श्रीयुत् प्रेममूर्त्ति को ग़ुस्सा आ गया। वे तड़प कर बोले, "तब आप उस सुन्दरी का पीछा क्यों किया करते हैं ? आप ऐसा करने वाले कौन होते हैं ?"

"मैं ? मैं ?" युवक के मुँह पर रहस्य-भरी मुस्कान दौड़ गई थी। "महाशय," उसने इतमीनान के साथ जेब से सिगरेट-केस और दियासलाई निकालते हुए कहा, "यह सवाल तो मुझे आप से पूछना चाहिए था। मैं उनका पति हूँ।"

और, वह सिगरेट सुलगाकर धुँआ उड़ाता हुआ युवती से जा मिला।

मुझसे यह बात कॉमरेड बारी अलीग ने कही, और उनके दोस्त मिर्ज़ा क़ाज़िम ने सुनाई आप-बीती। अब आप मेरे शब्दों में मुझसे सुनिए मिर्ज़ा-बीती, और ग़ालिब व गोयटे की आत्माओं को शान्ति प्राप्त होने की प्रार्थना कीजिए!

मिर्ज़ा क़ाज़िम जिन दिनों बर्लिन में थे, उन दिनों की बात है, कि मिर्ज़ा साहब से एक पञ्जाबी सिक्ख प्रीतमसिंह की जान-पहचान हुई। दोनों तीन-चार रोज़ तक कॉफ़ी-शॉप (क़हवाख़ाना) में एक-दूसरे से मिलते रहे। एक दिन सर्दार जी ने मिर्ज़ा साहब से कहा, कि भाई साहब, बात यह है, कि मैं इटली जाना चाहता हूँ और मेरे पास पैसा है नहीं। इटली में मेरा भविष्य बहुत उज्ज्वल हो सकता है। इसलिए आप अगर कुछ रुपए उधार दे दें, या किसी दोस्त से दिला दें, तो मैं इटली पहुँच कर थोड़े ही समय में क़र्ज़ चुका दूँगा।

मिर्ज़ा क़ाज़िम ने सोचने के बाद कहा—क़र्ज़? सर्दार साहब, यहाँ परदेस में कौन ऐसा हिन्दुस्तानी निश्चिन्त और धनी हो सकता है, जो अपना ख़र्च पूरा करने के अतिरिक्त किसी दोस्त को उधार भी दे सके?

सर्दार जी ने कहा—मुझे कोई ज़्यादा रुपए नहीं चाहिए; केवल......!

मिर्ज़ा साहब—(बात काट कर) अजी, कम-ज़्यादा का सवाल ही नहीं पैदा होता। बात यह है, कि किसीसे ऐसी प्रार्थना करना ही बेमतलब चीज़ है।

सर्दार जी—(हताश-से हो कर) तो फिर क्या किया जाए?

मिर्ज़ा साहब—किया क्या जाए? बहुत कुछ हो सकता है।

स० सा—(आशा-भरी दृष्टि से) वह क्या? वह क्या?

मि० सा०—वह यह, कि हिन्दुस्तानियों के बदले जर्मनों से रुपए हासिल किए जाएँ, जो बहुत आसान काम है।

स० सा०—वह कैसे?

मि० सा०—मैं कल बताऊँगा, आप इसी समय यहाँ पधारें।

सर्दार जी की आँखें यह सुन कर चमक उठीं और आप मिर्ज़ा साहब का 'पेशगी शुक्रिया' अदा करके चले गए।

रात-भर सर्दार जी को नींद नहीं आई, और दूसरे दिन समय से आध घण्टा पहले ही वे क़हवा-ख़ाने में पहुँच गए और बेसब्री से मिर्ज़ा क़ाज़िम की राह देखने लगे। आख़िर मिर्ज़ा आए और क़हवे की प्याली पीते हुए यूँ कहने लगे—देखिए सर्दार जी, मिर्ज़ा ग़ालिब हिन्दुस्तान के बहुत बड़े कवि थे, आप जानते ही होंगे?

स० सा०—वही न, जिन्हें इण्डियन शेक्सपियर भी कहते हैं।

मि० सा०—(मुस्कुराते हुए) नहीं, इण्डियन शेक्सपियर तो स्व० आग़ा हश्र काश्मीरी थे जो विख्यात ड्रामा-नवीस थे। ग़ालिब उनसे बहुत पहले मुग़ल-काल में हुए थे। आपका नाम अबदुल्ला ख़ान था और दिल्ली के रहने वाले थे। आप फ़ारसी और उर्दू—दोनों भाषाओं के बहुत बड़े कवि थे। लेकिन सारी उम्र तङ्ग-दस्ती में ही गुज़री। आपको शराब पीने का शौक़ था, इसलिए जीवन में कभी निश्चिन्तता प्राप्त न हुई।

स० सा०—बिलकुल मेरे चाचा हरनामसिंह की तरह। वह ज़ैलदार था, दो सौ बीघे ज़मीन थी, ज़िले-भर में इज़्ज़त थी; लेकिन शराब ही ने बेड़ा ग़र्क़ कर दिया। आज उसे कोई दस रुपए उधार नहीं देता।

मि० सा०—हाँ, हाँ, बस, ग़ालिब की भी यही अवस्था थी; लेकिन थे वे बड़े स्वाभिमानी; मरते मर गए, लेकिन किसीके आगे सिर नहीं झुकाया। उनकी एक ख़ूबी यह थी, कि......!

सर्दार जी सिर तो हिलाते जाते थे, लेकिन मनमें सोचते थे, कि बात तो जर्मनों से रुपए हासिल करने की थी, यह मिर्ज़ा साहब 'ग़ालिब' का क़िस्सा

क्यों छेड़ बैठे ? आप कुछ कहना ही चाहते थे, कि मिर्ज़ा क़ासिम ने इनके मन की बात को भाँप कर हाथ का इशारा किया, जिसका मतलब यह था, कि चुपचाप सुनते जाओ।

मि० सा०—'ग़ालिब' एक दार्शनिक कवि थे और उन्होंने वही ज़माना पाया, जो जर्मनी के दार्शनिक कवि 'गोयटे' को नसीब हुआ। गोयटे भी ......!

मिर्ज़ा साहब यहाँ तक कह पाए थे, कि सर्दार जी को धैर्य न हो सका और उन्होंने बात काट कर अपनी बात शुरू कर दी—लेकिन मिर्ज़ा साहब, जहन्नुम में जाएँ 'ग़ालिब' और 'गोयटे'। आपने तो बचन दिया था, कि आप जर्मनों से रुपए प्राप्ति की बात बताएँगे।

मि० सा०—बिलकुल ठीक, और मैं वही तरकीब तो बता रहा हूँ। आप ज़रा सुनते जाइए। आप हिन्दुस्तान के बहुत बड़े इतिहास-वेत्ता कवि और साहित्यिक हैं।

स० सा०— मैं और कवि ?......

मि० सा०—बस, आप चुप रहिए और मेरी बात सुनिए। आप रविवार को 'हेम्बर्ग हॉल' में एक व्याख्यान देंगे, जिसमें आप 'ग़ालिब और गोयटे' की कविता की तुलना करेंगे।

स० सा०—यह क्या कह रहे हैं आप ? मैं तो जर्मन भाषा का एक शब्द भी नहीं जानता और न 'ग़ालिब' और 'गोयटे' की शायरी से ही वाक़िफ़ हूँ।

मि० सा०—आप हिन्दुस्तानी में, और अगर यह भी न हो सके, तो पञ्जाबी भाषा में ही, व्याख्यान दें। बात केवल यह है, कि बोलते जाइए। ग़ालिब और 'गोयटे' की शायरी से आप वाक़िफ़ नहीं तो उनके नाम तो मुश्किल नहीं, ज़रा कहिए तो।

स० सा०—'ग़लिब-गोयटे' 'ग़ालिब-गोयटे'।

मि० सा०—बस बिलकुल ठीक। आप पास हो गए! केवल इतनी बात है, कि 'ग़ालिब अण्ड गोयटे' कहिए। अङ्गरेज़ी भाषा में जिसे हम 'एण्ड' कहते हैं, जर्मन में उसे 'अण्ड' कहा जाता है।

स० सा०—'ग़ालिब अण्ड गोयटे, ग़ालिब अण्ड गोयटे ।'

मि० सा०—वाह वा ! ख़ूब ! अब आप हिन्दुस्तान के बड़े स्कॉलर हैं। कल बर्लिन के अख़बारों में ऐलान छपेगा, कि हिन्दुस्तान के मशहूर स्कॉलर सर्दार प्रीतमसिंह एतवार के दिन शाम को हेम्बर्ग हॉल में 'ग़ालिब अण्ड गोयटे' के विषय पर एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान देंगे। दाख़ला टिकट के ज़रिए होगा, आदि।

स० सा०—लेकिन, मैं व्याख्यान में कहूँगा क्या ?

मि० सा०—जो जी में आए कहते जाइए, बस बोलते जाइए और हर तीन या पाँच शब्दों के पीछे 'ग़ालिब अण्ड गोयटे' कहते रहिए।

एतवार की शाम आ पहुँची। 'हैम्बर्ग-हॉल' जर्मन साहित्यिक-प्रेमियों से खचा-खच भर गया। सभापति के आसन पर बर्लिन के एक मशहूर साहित्यिक विराजमान थे, इनकी एक ओर सर्दार प्रीतम-सिंह, दूसरी ओर मिर्ज़ा क़ाज़िम बैठे थे। व्याख्यान का समय आ गया और सर्दार साहब व्याख्यान देने के लिए उठे। सभापति ने जनता से प्रोफ़ेसर प्रीतमसिंह का परिचय कराया, जिस पर हॉल स्वागत की तालियों से गूँज उठा।

सरदार साहब ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया।

"महानुभाव, मिर्ज़ा असदुल्ला ख़ान दिल्ली के रहने वाले थे, उर्दू और फ़ारसी—दोनों भाषाओं के कवि थे, शराब बहुत पीते थे इसलिए उनकी उम्र तङ्ग-दस्ती में गुज़री। दिल्ली हिन्दुस्तान की राजधानी है, वहाँ एक घण्टा घर भी है। चाँदनी चौक में सौदा बेचने वालों की आवाज़ें प्यारी होती हैं। हर तरफ़ से अवाज़ आती हैं—'ग़ालिब अण्ड गोयटे'।"

जनता ने ज़ोर-ज़ोर की तालियाँ बजा कर आस्मान सर पर उठा लिया, जब तालियों की गूँज समाप्त हुई, तो सर्दार साहब ने अपने व्याख्यान को जारी रखते हुए कहा।

"दिल्ली से तीन सौ मील के फ़ासले पर लाहौर है। मैं ज़िला लाहौर का रहने वाला हूँ। हमारा इलाक़ा बड़ा ज़रख़ेज़ (उपजाऊ) है। पिछले साल बारिश कम हुई थी, इसलिए फ़सल अच्छी नहीं हुई। इस साल गुरु महाराज की कृपा है। नहर में भी पानी ख़ूब रहा और बारिश भी ख़ूब हो गई, उम्मीद है, कि गेहूँ की फ़सल अच्छी रहेगी। लाहौर की बहुत-सी चीज़ें

देखने योग्य हैं। जैसे—बादशाही मस्जिद, महाराज रणजीतसिंह की समाधि, चिड़िया-घर...'ग़ालिब अजायब-घर अण्ड गोयटे'।"

फिर तालियों से वातावरण गूँज उठा। सभापति के मुख पर भी मुस्कुराहट के चिह्न दिखाई दिए। आपने मेज़ पर हाथ मार-मार कर व्याख्यानदाता की जादू-बयानी की सराहना की! सर्दार साहब ने जो यह सफलता देखी तो हिम्मत बढ़ गई और ज़रा ऊँची अवाज़में कहने लगे।

"ग़ालिब अण्ड गोयटे की बदक़िस्मती थी, कि उन्होंने श्री दरबार साहब अमृतसर के दर्शन नहीं किए। यहाँ तक, कि वह ज़िला गुरदासपुर भी न जा सके, वरना वहाँ का गुड़ खा कर इन्हें नानी याद आ जाती। ज़िला अमृतसर में एक गाँव चम्यारी है। वहाँ के खरबूज़े बहुत मशहूर हैं। कसूर की मेथी बहुत .ख़ुशबूदार होती है। ग़ालिब अण्ड गोयटे के क्या कहने, गोया इण्डिया अण्ड जर्मनी!"

इस बार सरदार ने उस्ताद के बताए हुए पाठ 'ग़ालिब अण्ड गोयटे' पर 'इण्डिया अण्ड जर्मनी' बढ़ा कर कमाल कर दिखाया और इन शब्दों ने सोने पर सुहागे का काम किया। तालियों से हॉल गूँज उठा। सर्दार साहब ने अपना व्याख्यान जारी रक्खा और दो-तीन शब्द कहने के बाद फ़र्माया—"साहबान! अब 'ग़ालिब' की कविता भी सुनिए।"

इस मौक़े पर मिर्ज़ा क़ाज़िम ने उठ कर जर्मन भाषा में कहा, कि अब प्रोफ़ेसर प्रीतमसिंह 'ग़ालिब' की कुछ कविता सुनाएँगे। सरदार साहब ने अपने विशिष्ट क़ौमी तर्ज़ (पञ्जाबी) में यह गाना शुरू किया।

असाँ नित्त दे

असाँ नित्त दे शराबी रहना नी रहनाम—

कौरे नारे अधविच कँध कर ले!

मिर्ज़ा क़ाज़िम कुर्सी से उछल पड़े, जिस पर हॉल में बैठे हुए आदमियों की तालियों से वातावरण गूँज उठा। मालूम होता था, जैसे उन्होंने इन अशआर को बेहद पसन्द किया। सर्दार साहब फिर बोले।

असी मर गए

असी मर गए कमाइयाँ कर दे नी

हरनाम कौर नारे अजे तेरे बन्द ना

बणे---हाथनी असी मर गए !

इस बार भी पहिले से अधिक करतल-ध्वनि हुई, लेकिन दाद की हद तो उस वक़्त हुई, जब सर्दार साहब ने 'ग़ालिब' की वह 'मसल्लस' सुनाई, जिसकी टीप का मिसरा यह था।

मोड़ीं बाबा डाँग वालया---छई !

डेढ़ घण्टा गुज़र गया और सर्दार प्रीतमसिंह मुवर्रख़, शायर और साहित्यिक का व्याख्यान समाप्त हुआ। इसके पीछे मिर्ज़ा काज़िम उठे। उन्होंने जर्मन भाषा में बतलाया, कि प्रोफ़ेसर ने किस योग्यता से 'ग़ालिब' और 'गोयटे' की तुलना की है। जैसी शायद ही आज तक किसी ने की हो। कम अज़ कम बर्लिन में तो ऐसा व्याख्यान आज तक नहीं हुआ, और मुझे अभिमान है, कि मेरे देश ने प्रोफ़ेसर साहब-जैसा आदमी पैदा किया। मैं इस व्याख्यान का पूरा अनुवाद करके बर्लिन के समाचार-पत्रों में छपाऊँगा। आप देखेंगे, कि मेरे देश के स्वनाम-धन्य साहित्यिक ने विद्वता के क्या-क्या दरिया बहाए हैं। मैं आप सब का धन्यवाद करता हूँ, कि आपने प्रोफ़ेसर साहब के विचार सुनने का कष्ट उठाया।

इसके बाद सभापति जी ने प्रोफ़ेसर साहब व मिर्ज़ा क़ाज़िम का धन्यवाद और सभा विसर्जन होने का ऐलान किया। फिर क्या था, बड़े-बड़े साहित्यिक, कवि, सम्पादक और रईस, सर्दार, साहब से हाथ मिलाने को लपके और आपको बड़ी मुश्किल से हॉल के दरवाज़े तक ले जाया गया। इसी रात को मिर्ज़ा क़ाज़िम प्रोफ़ेसर प्रीतमसिंह को ट्रेन पर सवार कराने के लिए स्टेशन तक गए। शायद बतलाना न होगा, कि दोनों की जेबें 'नोटों से' भरी हुई थीं !!

बारात में जाओ तो मुसीबत, न जाओ तो मुसीबत ! लाख इससे जान छुड़ाने की कोशिश करता हूँ, फिर भी तक़दीर की कुछ ऐसी .खूबी है कि झखमार कर इसमें फँसना पड़ता है ! .खैर, इस दफ़ा तो अपनी .खुशी से यह आफ़त अपने सर ली। क्योंकि एक बड़े आदमी की बारात थी, जिनकी कृपा-दृष्टि का खयाल रखना ज़रूरी था। दूसरे बारात जाने वाली थी इलाहाबाद, जहाँ अपने पुराने मित्रों से मिलना भी चाहता था।

मेरे इलाहाबाद जाने की ख़बर सुनते ही मेरे मिलने वालों की संख्या यकायक बढ़ गई। क्योंकि सभी को इलाहाबाद के अमरूदों की ज़रूरत थी। इसके अलावा किसीको बूट पॉलिश, किसीको साबुन, किसीको तेल, किसीको शरबत, मानो यहाँ कोई चीज़ मिलती ही नहीं, और तारीफ़ यह कि किसीने एक पैसा पेशगी (Advance) भी न दिया ! उसपर घर में शीशा-कङ्घी, साड़ी, जम्पर वग़ैरह-वग़ैरह दुनिया-भर की फ़रमाइश हो गई। अब तो सोचने लगा, कि किसी तरह मैं बीमार पड़ जाता, तो बड़ा अच्छा था। क्योंकि ज़बान दे कर अब बारात से छुटकारा पाने का और कोई उपाय न था। शाम होते-होते दस-पाँच आदमी और टपक पड़े। इन लोगों ने कोई फ़रमाइश नहीं की। सिर्फ़ एक-एक ख़त अपने चाचा, नाना, मामा, भाञ्जे वग़ैरह को इलाहाबाद में देने के लिए दिया ; गोया मैं बारात करने नहीं, पोस्टमैनी करने वहाँ जा रहा हूँ !

बड़ी कठिन समस्या में पड़ गया! अगर रायसाहब की कृपा-दृष्टि के ख्याल से उनकी बारात में जाता हूँ, तो अपने सभी मिलने वालों की फ़रमाइश या बात पूरी करना ज़रूरी है, वरना इनकी कृपा-दृष्टि से हाथ धोना पड़ेगा। अगर नहीं जाता हूँ, तो सिर्फ़ रायसाहब बुरा मानेंगे, इन लोगों को बुरा मानने का कोई मौक़ा न मिलेगा। एक की ख़ातिर पचास को नाराज़ करना ठीक नहीं है। इसलिए बारात का प्रोग्राम मजबूरन मन्सूख करना पड़ा, और मैं चिराग़ जलते ही रायसाहब के यहाँ माफ़ी माँगने पहुँच गया। क्योंकि बारात जाने वाली थी बारह बजे रात की गाड़ी से।

आग लेने गए थे, मगर मिल गई पैग़म्बरी। वही हाल मेरा हुआ; क्योंकि अभी माफ़ी माँगने की नौबत भी नहीं आई थी कि रायसाहब ने अपने मेहमानों की ख़ातिरदारी की मैनेजरी मुझे सौंप दी और कहा—"वाह भाइ! ख़ूब आए। मैं तो अभी आपको बुलाने ही वाला था। अब खाना खाने के लिए घर जाने की ज़रूरत ही नहीं। यहीं..."

मैंने खाना तो अभी नहीं खाया था, मगर इस ख्याल से, कि कहीं रायसाहब यह न समझें, कि खाने के लालच में यह इसी वक़्त आ गए। मैं झट से बोल उठा—"जी नहीं, खाने की कोई चिन्ता नहीं है। मैं तो सरे शाम ही खा लेता हूँ। मगर..."

"वाह! वाह! बड़ा अच्छा करते हैं। तब तो आपको इतमीनान है। असबाब के लिए कोई फ़िक्र न कीजिए। मैं अभी आदमी भेज कर आपके घर से मँगवाए लेता हूँ।"

मेरी अगर-मगर सब मुँह के भीतर ही रह गई, और मैं वहीं क़ैद हो गया! श्रीमती जी ने इतनी अक़्लमन्दी की, कि मेरे समान के साथ अपनी साड़ी-जम्पर के लिए ३०) रुपए भी भिजवा दिए।

२

आदमी का बदन कहाँ तक सिकुड़ सकता है, इसका पता मुझे उस वक़्त चला जब मैं बारात वाली गाड़ी में बैठा। यही बड़ी ख़ैरियत थी कि खाना खाए नहीं था, नहीं तो इसमें शक नहीं कि सुबह को लखनऊ स्टेशन पर मुझे क़ुली बुलवा कर उतरवाना पड़ता। फिर रात भर सिकुड़े-सिकुड़े हाथ-पैर काफ़ी बेकार हो चुके थे।

लखनऊ पहुँचते ही लोग बासी पूड़ियों पर टूट पड़े। दो बरस से तन्दुरुस्ती ख़राब होने के कारण पूड़ी मेरे लिए यों ही ज़हर थी, उस पर बासी और मैदे की। मेरे होश उड़ गए! एक दफ़ा रायसाहब ने चौंक कर कहा—"क्यों? आपने भोजन नहीं किया?"

मेरे मुँह से निकल गया—"जी हाँ, आज इतवार है न।" इसके सिवाय और मैं कहता ही क्या?

रायसाहब ने जल्दी से कहा—"वाह! वाह! आप इतवार व्रत रहते हैं। बड़ा अच्छा करते हैं। नियम से रहना ही चाहिए।"

लीजिए, आज दिन भर किसीके सामने एक फल भी मैं खाने लायक़ नहीं रह गया और मेहमानों की ख़ातिरदारी की मैनेजरी के मारे दम मारने की भी छुट्टी नहीं कि स्टेशन के होटल में जा कर चुपके से रोटी-दाल खा लूँ।

दोपहर को इलाहाबाद पहुँचा। मैं अपना सूट-केस और हाल्डऑल लिए एक ताँगे की तरफ़ लपका। क्योंकि बारात में हमेशा मैं अपने असबाब के साथ उतरता हूँ।

इतने में रायसाहब की मुझ पर नज़र पड़ गई। वह चिल्लाते हुए मेरी तरफ़ दौड़े—"अजीवाह! यह क्या आप ग़ज़ब कर रहे हैं! ताँगे पर जा कर मेरी नाक कटायेंगे क्या! यह दर्जनों मोटरें फिर किसके लिए आई हैं? आइए मेरे साथ मोटर में बैठिए।"

मैंने लड़खड़ाती हुई आवाज़ में कहा—"मगर असबाब।"

सवारियों के मैनेजर ने आगे बढ़ कर जवाब दिया—"उसके लिए ठेले मौजूद हैं। आप जाइए मोटर पर बैठिए। सामान पहुँच जाएगा।"

दो घण्टे इन्तज़ार करने के बाद जनवासे में ठेले पहुँचे। बड़ी मुशकिलों से एक ठेले पर मेरा सूट-केश तो मिला, मगर सैकड़ों बार छान-बीन करने पर भी मेरा होल्ड-ऑल कहीं दिखाई न पड़ा! आखिर ठेले वालों ने झल्ला कर एक ज़बान में कहा—"बाबू जी आप बिस्तरा लाए भी थे?"

इस सवाल के आगे मुझे चुप रह जाना बेहतर मालूम हुआ।

यार लोग नाश्ते पर जुट गए ; मगर मुझे तो इतवार का व्रत रखना पड़ा था, इसलिए एक कोने में चुपचाप बैठ कर सोचने लगा कि—"या बिना बिस्तरे के यह जाड़े की रात कैसे कटेगी ।"

३

कई दफ़ा जी में आया कि कहीं जा कर कुछ खा-पी लूँ । मगर जनवासा था सिविल लाइन्स में जहाँ न कोई खोन्चा वाला, न बाज़ार, न होटल, न एक्का और न ताँगा । एक बङ्गले से दूसरे बङ्गले तक जाने में जब दस मिनट लग जाते हैं, तब चौक आने-जाने में तीन घण्टे से क्या कम लगते ? अगर वहाँ किसी होटल में खाना इस वक़्त न तैयार मिला, तो उसके इन्तज़ार में बारात के द्वारचार में न शरीक हो सकूँगा । इसी दबसट में जहाँ का तहाँ बैठा रह गया !

दस बजे रात को द्वारचार से छुट्टी मिली । थोड़ी देर में बारात ही में खाना खाना था, तो अब चौक क्या करने जाता ? बारह बजे रात को खाने का बुलावा हुआ । उस वक्त मालूम हुआ कि पूड़ी खानी पड़ेगी । मैंने फिर उठने का नाम नहीं लिया । ईश्वर की कृपा से ओवरकोट अपने ही साथ मोटर पर ले आया था और सूट-केस में एक ऊनी चद्दर थी, उसी को ओढ़ कर किसी तरह कोने में लुढ़क गया, इतनी रात को किसी होटल में जाने की हिम्मत न पड़ी ।

मारे भूख के नींद कहाँ ? सुबह को बड़ी जल्दी उठ पड़ा और त्रिवेनी नहाने चल दिया । क्योंकि इलाहाबाद जा कर त्रिवेनी न नहाना अच्छा न मालूम हुआ ! लौटते-लौटते नौ बज गए । यहाँ जलपान और चाय का वक़्त आठ ही बजे ख़तम हो गया था । खाने के बारे में पता लगाने पर मालूम हुआ कि कच्चा खाना है, होटल वालों का इन्तज़ाम है और ठीक बारह बजे मिलेगा । सोचा यहाँ तीन घण्टे तक बेकार बैठे-बैठे क्या करूँ । जब तक अपने मिलने वालों की चिट्ठियाँ ही उनके मामू-भाञ्जों को दे आऊँ ।

एक ख़त के पीछे बारह आने ताँगे में ख़र्च हो गए और पूरे चार घण्टे का वक़्त ख़राब हुआ । फिर भी जिनको ख़त देना था, उनके घर का पता न मिला । यह हिसाब देख कर मेरी तबीयत और झल्ला गई । और कोई उपाय ख़तों को उनके पते पर पहुँचाने का न पा कर मैंने सब को एक

लेटर-बक्स में छोड़ दिया। वैसे ही ख़्याल आया कि अरे किसी में टिकट तो लगा नहीं है। सब बैरङ्ग हो जाएँगे। मगर तीर हाथ से निकल गया, अब पछताने से क्या होता ?

मरता-खपता डेढ़ बजे जनवासे पहुँचा। खतों की परेशानी में मुझे वक़्त का ख़्याल ही नहीं हुआ। यहाँ लोग खा-पी कर आराम कर रहे थे। रायसाहब मुझे देखते ही अगियाबैताल हो गए। बिगड़ कर कहने लगे—"वाह जनाब वाह! खाने के लिए पूरे घण्टे भर आपका इन्तजार करना पड़ा, और आपका पता नहीं!"

मैंने उन्हें शान्त करने के लिए जल्दी से कहा—"क्या बताऊँ, यहाँ मेरे एक रिश्तेदार मिल गए। उन्होंने..."

वह बात काट कर बोल उठे—"तो यह कहिए, आप बारात में नहीं, यहाँ अपनी रिश्तेदारी निभाने आए थे।"

खाना गया भाड़ में, मैं चुपके से अपना सूट-केस ले कर पिछवाड़े के रास्ते निकल गया!

४

सिर्फ़ बीस रुपए के अमरूद ख़रीद कर अपने खर्चे से मुझे इलाहाबाद से लौटना पड़ा। क्योंकि बजट में कुल तीस ही रुपए थे, जिसमें से पाँच रुपए अमरूदों के झाबा, कुली, ठेला, रेल महसूल के लिए बचाना पड़े और पाँच रुपए अपने टिकट के लिए। इसलिए वहाँ न तो किसी दोस्त से मिल सका और न घर की कोई फ़रमाइश ही ख़रीदी।

यहाँ जब स्टेशन पर उतरा, तो ठेले पर अमरूद लादे। पहिले अमरूद मँगाने वालों के घर इस इरादे से गया, कि उन्हें अमरूद दे-दे कर उनके दाम ले लूँ और उन्हीं दामों से यहाँ बाज़ार से साड़ी-जम्फर वग़ैरह ख़रीद कर घर जाऊँ, नहीं तो घर पर आफ़त मच जायगी।

मगर जिस-जिस के घर गया, वही अमरूदों का दाम और खर्चे का हिसाब सुन कर कानों पर हाथ धर और मुँह बिचका कर कहने लगा कि—जब इससे अच्छे और सस्ते अमरूद यहीं मिलते हैं, तब आप नाहक़ इन्हें उठा लाए। ज़रा तो अक़्ल से काम लिया होता। भला यह हैं किस काम के.

जिसे अपने पेट में दर्द पैदा करना हो या खाँसी बुलाना हो, वह इन्हें खाए।"

दो-एक जगह जो यह रङ्ग देखा, तो फिर कहीं और जाने की हिम्मत न पड़ी। ठेला लादे घर पहुँचा।

घर भर हैरान, कि इतने अमरूदों का क्या होगा! सभी पूछने लगे—"क्या दूकान खोलने का इरादा है?"

मैंने चिढ़ कर कहा—"नहीं, यह भी कुछ ख़बर है, कि आज मङ्गल है? बन्दरों को खिलाऊँगा!"

जिस कृपा-दृष्टि के लिए मैंने इतनी फ़िक्र की वह मेरे लिए दुनिया से मानो एकदम अलोप हो गई। क्योंकि घर पर मुझसे कोई बोलता नहीं। रायसाहब मुझे देखते ही मुँह फेर लेते हैं और मिलने वालों को क्या कहूँ, वह ढूँढ़े से भी कहीं दिखाई नहीं पड़ते। हाँ, बन्दर अलबत्ता रातों-दिन मेरे घर को घेरे रहते हैं!

"मैं आ गया भाभी!" सईद ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—"सलाम, तबीयत तो अच्छी है न?"

"ओह, तुम हो सईद!" भाभी ने आश्चर्य से आँख उठा कर कहा—"अचानक ही कैसे आए?"

"बस, आ गया हूँ। दो दिन की छुट्टी थी। मैंने कहा चलो भाभी से मिल आऊँ। भाई जान कहाँ हैं?"

"दफ़्तर गए हैं। कहो, ख़ाला का क्या हाल है?"

"बहुत-बहुत प्यार कहती हैं। कहती थीं, कि किसी रोज़ हम सब मिलने को आएँगे!"

"वहाँ कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई तुम्हें?"

"तकलीफ़! ओह, क्या बताऊँ भाभी, बेहद तकलीफ़ हुई मुझे।" सईद दीवार की ओर मुँह फेर कर मुस्कुरा दिया।

वह मशीन चलाते-चलाते रुक गई—"तकलीफ़ है तो वहाँ रहने की क्या ज़रूरत है? वापस बोर्डिङ्ग में चले जाओ। मैं तो पहिले ही कहती थी, कि उनके घर में इतने लोग हैं, और इतना-सा मकान है, फिर तुम्हारा आख़िरी साल है। तुम्हें तो एक अलग कमरा चाहिए।"

"अजब मुसीबत है!" सईद ने मुँह बना कर कहा और एक आह भरी।

"आख़िर हुआ क्या? मैं भी तो सुनूँ।"

"नहीं, तुम ख़फ़ा होगी।"

"तुम कहो भी तो।"

"वादा करो, कि नाराज़ न होगी।"

"हाँ, अब बताओ।"

वह उठ बैठा और बेताबी से इधर-उधर घूमने लगा—"यानी बिलकुल ही बता दूँ, क्यों भाभी?"

"कुछ बताओगे भी या यों ही पहेली बुझाओगे? कैसी अजीब आदत है तुम्हारी!"—भाभी चिढ़ कर बोलीं।

"कह तो रहा हूँ, तुम बेकार नाराज़ होती हो। मुझ-जैसे आज्ञाकारी देवर से नाराज़ होना, छिः भाभी! बात यह है, यानी मुझे अपनी भावी पत्नी मिल गई है।"

"क्या कहा? कौन मिल गई है?"

"मेरी पत्नी, यानी मेरे घर और मुझ पर राज करने वाली!"

"बस, तुम्हें तो हर घड़ी दिल्लगी ही सूझती है।" भाभी मुस्कुराती हुई बोलीं।

"सचमुच भाभी हँसो नहीं, तुम्हारी क़सम!"

"कौन है वह?"

"तसलीम!"—सईद ने झुक कर सलाम करते हुए कहा।

"कौन तसलीम? ख़ाला की लड़की? पर यह भी जानते हो, कि ख़ाला ने सुन लिया, तो जूते मार कर घर से निकाल देंगी।"

"तभी तो कहता हूँ, अजीब मुसीबत है।"

"पर वह तो अभी बच्ची है। जब मैंने उसे देखा था, तो वह बिलकुल छोटी-सी थी।"

"अब तो बहुत बड़ी हो गई है वह। बस, तुम्हारे जितना ही क़द होगा। जब मैं नया-नया वहाँ गया था, तो एक विचित्र घटना घटी। पहले-पहल तो मैं आमतौर से बैठक ही में रहता था। अलबत्ता छोटा मानो और जाजी अकसर मेरे पास आ जाया करते थे। मानो तो दो ही दिन में मेरा दोस्त बन गया। बड़ा तेज़ लड़का है वह। दूसरे दिन ख़ाला आ गईं। कहने लगीं—"चलो बेटा, अन्दर चलो न! तुम तो बैठक ही हो रहे हो; तुम्हारा अपना घर है। क्या तुमसे कोई परदा करेगा?" उस रोज़ तो मैं दो-चार मिनिट अन्दर बैठा, फिर बाहर आ गया। अगले दिन ख़ाला ने फिर मुझे

बुला भेजा, किश्शों, मानी और जाजी भी आ गए। खाला भी बैठी रहीं। बड़ी बातें हुईं उस दिन। फिर जब मैं दीवानखाने की तरफ़, जा रहा था, तो वह मेज़ के पास खड़ी बाल बना रही थी। बिलकुल इसी तरह—ज़रा-सा बाईं ओर झुकी हुई। ऐसे ही तुम्हारे-जैसे लम्बे काले बाल। ख़ुदा की क़सम! मैं तो हैरान रह गया। मैं समझा, शायद भाभी आ गई हैं, और जैसी मेरी आदत है, मैंने नज़दीक जाकर कहा—"आख़िर मैंने पहचान ही लिया न, क्यों भाभी?" उसने जो मुड़ कर देखा, तो मैं खड़ा रह गया! वह तो कहो, कि उस वक़्त उस कमरे में कोई और न था; वरना बुरा होता। पर भाभी ताज्जुब है, कि उसकी शक्ल बिलकुल तुम्हारे-जैसी है। ऐसा ही चौड़ा माथा...और यानी...बिलकुल ही तुम्हारी जैसी। बस, सिर्फ़ इतना ही फ़र्क़ है, कि तुम्हारे माथे पर यह काला तिल है और उसके माथे पर नहीं है। बाक़ी हू-ब-हू जैसे तुम्हीं हो।"

"बड़ी गप्पें मारनी आती हैं तुम्हें। छोड़ो अब यह क़िस्सा और जाकर नहा लो। मालूम होता है, कि सफ़र की थकावट से तुम्हारा दिमाग़ ठीक नहीं है।"

"भाभी? बस तुम तो मेरी हर बात को दिल्लगी ही समझती हो।"

भाभी चुप-चाप बैठी मशीन चलाती रहीं।

"अब तो मेरी सिर्फ़ एक अभिलाषा है भाभी! दुनिया में सिर्फ़ एक तुम हो, जिसके लिए मेरे दिल में बेहद इज्ज़त है और एक 'वह' है जिससे मुझे...। सिर्फ़ इतनी अभिलाषा है, कि तुम, मैं और वह इकट्ठे रहें!"

"तुम और वह तो हो गए, मेरा नाम ख़्वाह-मख़्वाह......।" भाभी मुस्कुराते हुए बोलीं।

"तुम बड़ी वह हो भाभी, जो मुझे सताती रहती हो। देखो न तुम्हारे सिवा मेरा कौन है? अम्मा तो मैंने देखी ही नहीं, छोटा सा तो था ही उन दिनों। बस, तुम ही तुम हो, और है कौन? मुझे याद है, जब तुम नई-नई आई थीं और मुझे गोद में बिठाकर सिर पर हाथ फेरा था। फिर अकसर रात को जब तुम मुझ पर रज़ाई डालने के लिए झुकती थीं, तो मेरी आँखें खुल जाया करती थीं। आँख खोलता, तो तुम्हारा बड़ा-सा चेहरा, चौड़ा-सा माथा और उसके बीच में काला-सा तिल दिखाई देता। वह नक़्शा अब भी

मेरी आँखों के सामने फिरता है, जैसे दिल पर नक़्श हो! क्यों भाभी याद हैं वे दिन ?"

"हाँ, याद हैं। उन दिनों तुम इतने-से थे, लेकिन अब तो एक दम इतने बड़े हो गए।"

"पर तुम्हारे लिए तो इतना-सा ही हूँ, है न ?"

"अब तो बड़े शैतान हो गए हो तुम ?"

"यह क्या बात है ? बच्चे तो होते ही शैतान हैं! क्यों भाभी; है न यही बात ?"

"अच्छा, छोड़ो इन बातों को। जाओ, जा कर नहा लो। देखो तो, जब से आए हो ज़रा भी काम तुम ने नहीं करने दिया।"

"अच्छा, भाभी तुम जैसा भी कहो।"—सईद ने भाभी को एक फ़ौजी सलाम किया और फिर बराबर के कमरे में जाकर कपड़े बदलने लगा। कपड़े बदल कर वह वहीं से चीख़ने लगा—"एक बात याद आ गई भाभी! सुनाऊँ, बड़े मज़े की बात है ?"

"क्या है ?"—भाभी ने मशीन चलाते हुए कहा।

सईद दरवाज़े की चौकठ पर आ बैठा और कहने लगा—"एक दिन मेरी तबीयत ख़राब-सी थी, इसलिए मैं चादर लपेट कर बरामदे में सो गया। शायद उसने समझा, कि ख़ालू पड़े हैं, शायद कुछ ख़ाला ने कहने के लिए भेजा था। बस, वह आई, झुक कर मेरे मुँह से चादर हटाई; मेरी आँख खुल गई। उसका बड़ा-सा चेहरा अपने ऊपर झुका हुआ देख कर यकायक मेरे मुँह से निकला—क्यों भाभी ? और मैं उठ कर बैठ गया। इस बात पर बड़ा मज़ा रहा। उसका मुँह लाल हो गया और वह भागी। इधर ख़ाला ने सुना तो हँस-हँस कर लोट गईं। अन्दर मानों चीखने लगा—'अम्मा देखो तो बाजी को क्या हो गया है, आल्मारी में मुँह डाल कर आप ही हँस रही है। ज़रूर मेरा गेंद छिपा दिया होगा।' किश्शो भागी-भागी मेरे पास आई और एक अजीब ढङ्ग से गाती हुई हाथ फैला कर घूमने लगी—'बहुत बुरा हुआ भाई जान से। ख़ाला तो हँसी के मारे मुँह में पल्ला ठूँस रही थीं यानी सचमुच बहुत बुरा हुआ हमसे उस दिन।'

"अच्छा, अब बातें ही बनाते रहोगे या नहा ओगे भी?"—भाभी ने त्योरी चढ़ा कर कहा।

"अच्छा तो, लो चले जाते हैं हम।" 'ग़ैर के पाँव पड़ गया बेख़ुदीए-नियाज़ में' गुनगुनाता हुआ वह ग़ुस्लख़ाने में चला गया।

भाभी काम करते हुए आप ही आप कहने लगीं—मैं कहती हूँ तसलीम की तो शायद मँगनी भी हो चुकी है। न जाने मैंने कहाँ से सुना था। उन्होंने उच्च स्वर में सईद को पुकारा—"सईद!"

"मुझ से कहा है कुछ?" सईद ने ग़ुस्लख़ाने से पूछा।

"कह रही हूँ, कि तसलीम की तो मँगनी भी हो चुकी है।"

"सच!" सईद ने घबड़ा कर पूछा—"नहीं, तुम मुझे यूँ ही सता रही हो भाभी!"

"ईमान से सच कहती हूँ, न जाने मुझे किसने बताया था। हाँ तुम्हारे भाई ही तो कह रहे थे, जब वह बम्बई से आए थे। उन दिनों ख़ालू बम्बई में काम करते थे न! और तुम्हारे भाई उन्हीं के यहाँ रहते थे।"

मुझे तो मालूम नहीं मुझसे तो उन्होंने कोई बात नहीं की।"

"शायद फिर बात बनी ही न हो। हमने भी तो उड़ती हुई सुनी थी।"

"मैं जानता हूँ!" सईद हँसते हुए कहने लगा...... "

"तुम बड़ी वह हो, भाभी!"

"बहुत गुस्ताख़ हो गए हो तुम। आने दो अपने भाई को तो उनसे कह कर तुम्हें पिटवाऊँगी।"

"ओह! वह तुम्हारी बात ज़रूर मानेंगे।"

"उन्हें बताऊँगी न!" भाभी ने मुस्कुराते हुए कहा—"कि छोटे मियाँ लाहौर में अपनी एक 'वह' बना आए हैं।"

"ख़ुदा के लिए यह उनसे न कहना भाभी! बड़ी अच्छी है भाभी मेरी।" सईद नहाते हुए भाभी की खुशामद करता रहा; लेकिन वह चुपचाप बैठी हुई मुस्कुराती रही।

नहा-धो कर वह सीधे भाभी के पास आया—"बड़ी अच्छी है हमारी भाभी। जरा रोब छाँटती हैं। वैसें बड़ी अच्छी हैं।"

"ऊँहुँ, ऊँहुँ, मैं तो ज़रूर कहूँगी उनसे।" भाभी ने मुँह बना कर कहा।

"नहीं .खुदा के लिए......।"—कहते हुए सईद हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया।

वह हँस पड़ीं—"यह लड़का तो उसके ध्यान में अपने आप से भी जाता रहा!"

"यही मुसीबत है।"—सईद ने सिर पर हाथ फेरते हुए कहा!

लेकिन सईद उसे भी कुछ खबर है या सिर्फ़ तुम ही मजनूँ हो रहे हो?"

"तुम्हें क्या पता भाभी, कि उसे क्या है? बस कुछ न पूछो।" कहते हुए वह उठ कर बेचैनी से इधर-उधर टहलने लगा।

"मैं भी तो सुनूँ।"—भाभी मशीन चलाते हुए बोलीं।

"कल ही की बात है" उसने भाभी के सामने बैठते हुए कहा—"मेरे जी में आया, कि कोई शरारत करूँ। वह बाहर धूप में बैठी पढ़ रही थी। जीजी और मानी भी पास बैठे थे। किश्शो कुछ बुन रही थी और खाला अन्दर तख़्त पर बैठी नमाज़ पढ़ रही थीं। मैंने तवे की सियाही उँगली में लगा ली और उसके पास जा खड़ा हुआ—'यह तुम्हारे माथे पर क्या लगा है?' मैंने कहा और इससे पहिले, कि वह कुछ कहती, मैंने पोंछने के बहाने उसके माथे के बीच में उँगली से काला टीका लगा दिया। यह देख कर मानी चिल्लाया—'बाजी हिन्दू!' किश्शो और जाजी हँसने लगे। बाहर आकर मैं दरवाज़े से देखता रहा। .खाला ने नमाज़ से छुट्टी पा कर उसकी तरफ़ देखा और लगी मुस्कुराने फिर मानी को डाँट कर बोलीं—'क्या शोर मचाया है तू ने?' मानी बोला—'अम्मा देखो तो बाजी के माथे पर।' क्या है उसके माथे पर खाला ने बात करते हुए मुँह बना कर कहा—'कुछ भी तो नहीं है।'

फिर शाम को जब मैं अन्दर गया तो वह बैठी रोटियाँ पका रही थी। उसने मेरी तरफ़ देखा और मुस्कुरा कर आँखे नीची कर लीं। माथे पर वह काला टीका ज्यों का त्यों लगा था। इतने में मानी दौड़ता हुआ आया—'भाईजान मुझे भी हिन्दू बनाओ मैं भी हिन्दू बनूँगा।'

'हिन्दू बनाऊँ?'—मैंने बनावटी आश्चर्य से कहा—'वह कैसे?'

वह माथे पर उँगली रख कर कहने लगा—'यहाँ लगा दो जैसे बाजी को लगाया था।'

"उसने नीची निगाहों से घूर कर मानी की ओर देखा और फिर आँखे झुका कर यूँ बैठ गई, कि टीका साफ़ दिखाई दे। यानी उस दिन वह दिन भर वैसे ही फिरती रही। यद्यपि सारे घर वाले उस दिन उस पर हँसते रहे, लेकिन उसने वह टीका न मिटाया। कैसे मिटाती, हमारे हाथ का लगाया हुआ टीका ?" और वह खिलखिला कर हँस पड़ा—"अब बोलो भाभी, कैसे मिज़ाज हैं।"

"रहने दो यह गप्पें, जानती हूँ मैं तुम्हारी बातों को।"

"अच्छा तो सुनो।" सईद ने भाभी की बात अनसुनी करके कहा—"एक दिन मानी भागता हुआ आया और कहने लगा—"भाई जान ! बाजी चूड़ियाँ पहन रही हैं, चूड़ियाँ !' मैंने वैसी ही हँसी में बना दिया—'चूड़ियाँ आख़ थू' मैंने कहा—'चूड़ियाँ तो गाँव की लड़कियाँ पहनती हैं।' मेरा ख़्याल है उसने मेरी बात सुन ली होगी, क्योंकि अगले दिन मैंने देखा, कि उसकी कलाइयाँ बिलकुल ख़ाली थीं। मुझे यह देख कर दुख-सा हुआ। मैंने सोचा, जाने किस चाव से उसने चूड़ियाँ पहनी होंगी। मुझे अपनी शरारत पर ग़ुस्सा आया। मैंने किश्शो को सम्बोधित कर के कहा—"किश्शो तुम चूड़ियाँ क्यों नहीं पहनतीं देखो तो हाथ कैसे ख़ाली-ख़ाली से हैं।"

"कल आई तो थीं, चूड़ियों वाली।' वह बोली—'बाजी ने पहनी भी थीं।' उसने बहाने-बहाने अपनी कलाइयाँ छुपा लीं।

'फिर ?'—मैंने किश्शो से पूछा।

"बाजी को पसन्द न आईं इससे उतार दीं।"

" 'ओह !' यह बात है।" मैंने कहा—'मैं ला दूँ तुम्हें चूड़ियाँ। चूड़ियाँ ख़रीदने में तो मुझे कमाल हासिल है। ऐसी लाके दूँगा, कि बैठी अपने हाथों को देखती रहो। घर में जब किसी को मँगवानी होती हैं तो मुझ ही से कहा जाता है। बस अपने नाप की चूड़ी दे दो, फिर देखना।"

"अगले दिन जब मैं और मानी बैठक में बातें कर रहे थे, तो मानी चिल्लाने लगा—'यह देखो भाई जान। उसने मुझे एक चूड़ी दिखा कर कहा—'यह क्या तुम्हारी चूड़ी है' ?"

"अच्छा बूझो भाभी वह किसकी चूड़ी थी ?"

"मैं क्या जानूँ !"—भाभी ने काम करते हुए कहा।

"तभी तो बता रहा हूँ तुम्हें। यानी कोई वह चूड़ी चुपके से वहाँ रख गया था, ताकि मैं उस नाप की चूड़ियाँ ला दूँ। क्यों भाभी समझीं आप ?"

"शायद वह किश्शो की हो।"—भाभी ने कहा।

"ऊँ हूँ !" सईद ने सिर हिलाया—"मैंने किश्शो की कलाई से मिला-कर देखा था। वह उसके बहुत बड़ी थी। मैं उसे हर समय अपने पास रखता हूँ। अब भी वह मेरे पास है, दिखाऊँ ?" वह उठ बैठा और सूटकेस से एक चूड़ी निकाल कर भाभी से कहने लगा—"यह देखो, भाभी !"

भाभी उसे हाथ में ले कर कुछ देर तक ग़ौर से देखती रहीं ! फिर बोल उठीं—"तौबा ! कितना झूठ है ? ग़प मारने में तुम्हें कमाल हासिल है। यह चूड़ी तो वह है, जो पिछले महीने मैंने तुम्हें दी थी, कि इस नाप की चूड़ियाँ ले आना। देखो, तो बिलकुल वही है। मेरे और उसके हाथ में बड़ा फ़र्क़ है।"

"कब दी थी मुझे ?" वह आश्चर्य्य से कहने लगा।

"याद नहीं, जब तुम दस दिन की छुट्टियों में आए थे पिछले महीने। हाँ, बल्कि तुम्हारे भाई ने आप कहा था, कि चूड़ियाँ लाहौर से मँगवा लो। याद आया ?"

"ओह।" सईद ने दाँतों तले ज़बान दबा ली—"लेकिन भाभी फिर यह मेरी मेज़ पर कैसे पहुँच गई ?"

"किसी बच्चे ने सन्दूक़ से निकाल कर वहाँ रख दी होगी।"

"लाहौल विलाक़ूवत ! मैं भी क्या बेवक़ूफ़ हूँ !"

"आज पता चला है तुम्हें ?"—भाभी ने मुस्कुराते हुए कहा।

"और भाभी मज़े की बात यह है, कि मैं इसे छुपा-छुपा कर रखता था, कि कोई देख न ले और...!"

"बस रहने दो यह ग़प्प।"

"ख़ुदा की क़सम! सच कहता हूँ। एक दिन की बात है। कि......।"

"न। मैं नहीं सुनती !" भाभी ने मुस्कुराकर कानों में उँगलियाँ दे लीं।

"ख़ुदा की क़सम ! आज तो बुरा हुआ हमसे।" यह कह कर वह उठ बैठा और पास के मिले हुए कमरे में जा कर सूटकेस में से अपने कपड़े

निकालने लगा। काग़ज़ों में से उसने दो तसवीरें निकालीं और भाभी के पास आकर कहने लगा—"यह देखो, भाभी ! मेरे पास उनकी तसवीर है।"

"सच !" भाभी बोलीं—"देखूँ तो !"

"ओह ! बहुत बड़ी हो गई है।" भाभी ने तसवीर देखते हुए कहा।

"तुम तो कहते थे—जाने क्या कहते थे—जाने क्या कहते थे, देखो तो उसकी अपनी ही शकल है।"

"लेकिन माथा तो बिलकुल तुम्हारा...!"

"लेकिन इसके माथे पर यह काला तिल कैसा है।" भाभी ध्यान से तसवीर देखते हुए कहने लगीं।

"नहीं, उसके माथे पर तिल तो नहीं है।" सईद बोला।

"तो यह काला-सा क्या है ?" भाभी ने उसे तसवीर दिखाते हुए पूछा।

"न जाने कैसे लग गया है यह मुझे तो मालूम नहीं; शायद किसी ने लगा दिया हो।"

"आखिर लगाने से ही लगा होगा। अपने आप तो नहीं आ लगा, और तुम तो इसे छिपा-छिपा कर रखते होगे। फिर और कोई कैसे लगा सकता है।"

"तुम्हारी क़सम भाभी ! बड़ी एहतियात से रखता हूँ इसे। रोज़ सिरहाने रख कर सोता हूँ इसे सवेरे ही उठ कर देखता हूँ।"

"अच्छा, तो अब छोड़ो इन बातों को और इसके माथे से यह बिन्दी-सी खुरच दो। किसीने देख लिया, तो क्या कहेगा।"

"अभी खुरचे देता हूँ, भाभी"

"नहीं, अभी मेरे सामने। नहीं तो तुम भूल जाओगे, और अगर तुम भूल गए तो मैं नाराज़ हो जाऊँगी।"

"छिः भाभी ! तुम इतनी-सी बात पर ख़फ़ा हो जाती हो।"

भाभी सईद के हाथ में एक और तसवीर देखकर बोलीं—"यह दूसरी तसवीर किसकी है ?"

"यह है हमारी भाभी की तसवीर !"

"कौन-सी ?"

"वही जो पिछले साल भाई जान ने खिंचवाई थी।"

"लेकिन यह तुम्हारे पास कैसे जा पहुँची। ओह! मैं भी सोचती थी, कि सन्दूक़ में मैंने तीन कॉपियाँ रक्खी थीं, लेकिन अब सिर्फ़ वहाँ दो

"यह तुम्हारे माथे पर क्या लगा है?"

पड़ी थीं। तुमने सन्दूक़ में से चुरा ली होगी।"

परिचय के लिए पृष्ठ ७६ देखिए।

"कैसे न चुराता। इसके बिना जिन्दगी पूर्ण नहीं होती। बस, एक तुम हो भाभी, जिसके लिए मेरे दिल में बेहद इज्ज़त है। बस, तुम, मैं और यह!" उसने तसलीम की तसवीर की ओर इशारा करके कहा—"यह तुम्हारी बहूरानी! तीनों इकट्ठे हों, तो मेरे लिए स्वर्ग हो जाय।"

"अच्छा, छोड़ो इन ग़प्पों को और तसलीम के माथे का तिल खुरच दो। सुना तुमने?"

"यह लो अभी जाता हूँ।" उसने एक फ़ौजी सलाम करते हुए कहा और बराबर के कमरे में जा कर चाक़ू ढूँढ़ने लगा।

शाम को जब सईद बाहर घूमने गया हुआ था, तो उसके भाई हमीद दफ़्तर से आए। मियाँ-बीबी देर तक बैठे बातें करते रहे। बातों ही बातों में तबस्सुम ने सईद की बात छेड़ दी। कहने लगी—"अल्ला रक्खे अब सईद जवान हो गया है। आपको उसकी भी फ़िक्र करनी होगी। अब भी अगर आप उसकी शादी की फ़िक्र न करेंगे, तो कब करेंगे?"

"अभी उसे बी० ए० तो कर लेने दो।"—हमीद ने लापरवाही से कहा।

"आख़िर आप की निगाह में कोई लड़की है भी या नहीं?"

"तुम पगली हो बिस्मी?" हमीद मुस्कुरा कर कहने लगा—"आज-कल वह ज़माना नहीं रहा, कि जिसे चाहा लड़के के सिर मँढ़ दिया।"

तबस्सुम उसकी बात अनसुनी करके बोली—"ख़ाला की लड़की तसलीम के बारे में आपका क्या ख़याल है?"

"तुम से तो बस हद है। मुझ से क्या पूछती हो? कोई मेरा ब्याह करना है तुम्हें! पूछो लड़के से। हम तो सिर्फ़ यही चाहते हैं, कि कोई इज्जतदार घराना हो, और बस।"

"तभी तो कह रही हूँ। ख़ाला का घर तो जानते ही हैं आप; और लड़का भी राज़ी है, बल्कि बातों में उसने मुझे ख़ुद जताया है......!"

"बस, तो फिर मुझसे पूछने की क्या ज़रूरत है? लेकिन हाँ तुम्हारी ख़ाला का क्या ख्याल है इस बारे में?"

"तभी तो कह रही हूँ, कि अगर आप इजाज़त दें तो एक दिन के लिए लाहौर चली जाऊँ और ख़ाला से बात करूँ; वैसे भी मुझे उनसे मिले छः साल हो गए हैं। वे मेरी शादी पर आई थीं। इसके बाद मुलाक़ात नहीं हुई।"

जब सईद ने सुना, कि भाभी उसके साथ एक दिन के लिए लाहौर जा रही हैं, तो वह ख़ुशी से नाचने लगा—"ओह भाभी! मेरी तो ईद हो जायगी! हम तीनों एक ही जगह होंगे। तुम, मैं और वह!"

ख़ाला और तबस्सुम बड़े तपाक से मिलीं। मानो ता तबस्सुम के गले का हार हो गया। किश्शो भी दिन भर 'आपा-आपा करती फिरी और तसलीम भी आँखों ही आँखों में मुस्कुराती रही, क्योंकि सईद भी पास ही बैठा था।

रात को जब ख़ाला और तबस्सुम अकेली बैठीं, तो तबस्सुम ने सईद की बात छेड़ दी। कहने लगी—"ख़ाला जी, तसलीम के बारे में भी कुछ सोचा है आपने। अल्ला रक्खे अब तो जवान हो गई है।"

"मैंने कई बार तुम्हारे ख़ालू से कहा है, पर तुम जानती हो बेटी, उनकी तबीयत ही अजीब है। कहते हैं—"जब लड़की सयानी हो जायगी, तो देखा जायगा।" उनका ख़्याल है, कि लड़की की मरज़ी पूछे बिना यह काम नहीं करना चाहिए। मुझे उनकी यह बात अच्छी नहीं लगती। तुम्हीं बताओ बेटी, भला माँ-बाप लड़की से ऐसी बात पूछते हुए अच्छे लगते हैं क्या? हमारे ज़माने में तो यह बड़ा ऐब समझा जाता था। हम तो पुराने ज़माने के हुए न बेटी! मगर वह तो मेरी बात सुनते ही नहीं।"

"इस बारे में एक बात कहूँ ख़ाला! अगर बुरा न मानो तो।"

ख़ाला के माथे पर बल पड़ गया। "वाह! मैं क्यों बुरा मानने लगी? तुम से बढ़ कर मुझे कौन अज़ीज़ होगा, बेटी?"

तबस्सुम झेंप कर बोली—"मेरा मतलब है, कि सईद माशा अल्ला जवान है। इस साल बी० ए० कर लेगा। बड़ा अच्छा लड़का है वह। अगर...............। आपकी क्या राय है?"

"लो बेटी, वह तो अपना ही लड़का हुआ, मुझे तो इस बात में बड़ी ख़ुशी होगी। मैं आज तुम्हारे ख़ालू से बात करूँगी। मेरा ख़याल है, कि उन्हें इस बात में कुछ एतराज़ न होगा। अपनी लड़की अपने घर में रहे, तो अच्छा ही होता है; क्यों, है न बेटी ?"

अगले दिन ख़ाला हँसते हुए कहने लगीं—"मैंने कहा था न, कि उन्हें बिलकुल एतराज़ न होगा। कहने लगे—'यह तो बड़ी ख़ुशी की बात है; बशर्ते, कि तसलीम को मन्ज़ूर हो'। बुरा न मानना बेटी! आजकल का रिवाज जो है—अब मुसीबत यह है, कि तसलीम से मैं तो बात कर नहीं सकती। मुझसे तो न हो सकेगा।"

"मैं ख़ुद पूछ लूँगी ख़ाला जी, आप बे-फ़िक्र रहें।" तबस्सुम ने हँसते हुए कहा।

दोपहर के समय बहाने-बहाने तबस्सुम तसलीम को बैठक में ले गई; लेकिन वह सोच रही थी, कि कैसे बात करे। उसकी समझ में नहीं आता था, कि वह क्या कहे ? चन्द मिनिट तो वह इधर-उधर की बातें करती रही, फिर उसकी निगाह सईद के बिस्तर पर जा पड़ी। बिस्तर लगा हुआ था और सिरहाने के नीचे से तसवीर का एक कोना दिखाई दे रहा था। यकायक उसे सईद की वह बात याद आ गई 'ईमान से भाभी, मैं उसकी तसवीर बड़ी सावधानी से रखता हूँ। रोज़ सिरहाने रख कर सोता हूँ और सवेरे उठकर देखता हूँ।' वह मुस्कुरा पड़ी और कहने लगी—"तसलीम मेरा एक काम करोगी। बड़ी मुश्किल आ पड़ी है। तुम्हारी कोई सहेली है, जाने क्या नाम है उसका। सईद को बड़ा प्रेम है उससे! बेहद"—उसने अपनी मुस्कुराहट को रोकते हुए कहा—"हमारा इरादा है, कि अब सईद की शादी कर दें। लेकिन मेरा ख़याल है, कि उस लड़की के माँ-बाप से बात करने से पहिले लड़की की मर्ज़ी पूछ लें। अगर उसे मन्ज़ूर हो, तो बात भेजें, क्यों तसलीम है न ठीक ?"

तसलीम का मुँह पीला पड़ गया।

तबस्सुम मुस्कुरा कर बोली—"तुम अगर उससे बातों ही बातों में पूँछ लो, तो मेरे दिल से यह फ़िक्र जाती रहे।"

"मुझे क्या मालूम, कि वह कौन है आपा !" तसलीम ने बड़ी मुश्किल से कहा।

"मैं बताती हूँ तुम्हें।" तबस्सुम ने हँसते हुए जवाब दिया—"देखो न सईद को, उस लड़की से इतना प्यार है, कि रोज़ उसकी तसवीर सिरहाने रखकर सोता है। यह देखो, अब भी तकिए के नीचे पड़ी है। आज शायद वह उसे उठाना भूल गया है। यह देखो !" तबस्सुम ने तकिये के नीचे से तसवीर निकाल कर तसलीम को दिखाते हुए कहा।

तबस्सुम की दृष्टि चित्र पर पड़ी। उसके मुँह से एक चीख़-सी निकल गई। रङ्ग पीला पड़ गया। उसके हाथ में उसकी अपनी ही तसवीर थी ! माथे का तिल चाक़ू से खुर्चा हुआ था !!

तसलीम खिलखिला कर हँस पड़ी—"मुझ से मज़ाक़ करती हो आपा मज़ाक़ !" हँसते-हँसते उसकी हिचकी-सी बँध गई। उसका मुँह लाल हो रहा था और गाल आँसुओं से तर थे। ठीक उसी समय सईद ने कमरे में प्रवेश किया। जाजी, न जाने कब से दरवाजे में खड़ा था; सईद को देख कर चिल्लाने लगा—"देखो भाई जान, बाजी को क्या हो गया है। मुँह से हँसतीं है और आँखों से रो रही हैं !"

बहुत लोगों का, ९५ फ़ीसदी का, ऐसा ख़्याल है, कि दावत बड़ी अच्छी चीज़ है, इसमें बड़ा मज़ा आता है। चार दोस्त-अहबाब, हमजोली, हमख़्याल एक साथ चौके में बैठ कर भोजन करते हैं; तरह-तरह की फुलझड़ियाँ, मीठी चुटकियाँ छूटती रहती हैं, और .खूब जशन होता है। अच्छी मौज रहती है। दोस्तों के भोजन-कम्पिटीशन में आदमी खाता भी है .खूब अफर-अफर कर!

मगर, मेरा अपना ख़्याल है, दावत-जैसी बुरी चीज़ दुनिया में कोई नहीं। दो ही बातें इसमें होती हैं, या तो खाते-खाते महामारी हो जाती है, या खाने-बिना भूखों तड़पना पड़ता है। कोई खा कर मरे, और कोई बिना खाए मरे! यह कहावत ऐसे अवसर पर अक्षरशः लागू होती है; और मेरा अपना अनुमान है, कि इस लोकोक्ति के प्रणेता बेचारे को कभी किसी 'दावत' की आफ़त से ज़रूर पाला पड़ा होगा, तभी तो उसने यह कहावत गढ़ी।

मैं मानता हूँ, आप मुझे मूर्ख कहेंगे, क्योंकि दावत वाक़ई बुरी चीज़ होती, तो लोग शादी से ले कर मौत तक, यानी .खुशी व ग़म में, मुक़दमे की डिक्री में, इम्तिहान में पास होने पर अपने दोस्त-अहबाब की दावत देने के लिए तङ्ग क्यों करते? मगर मैं अर्ज़ करूँ, माना दावत बहिश्त का फाटक है और हूरों की महफ़िल से भी इसमें ज़्यादा मज़ा आता है; मगर साहब, इस 'दावत' ने मुझे जैसी परेशानियों में डाला है, कि अब इसकी सूरत से भी मुझे नफ़रत पैदा हो गई है। आप सुनेंगे उस आफ़त की कहानी? अच्छा सुनिए—

रायबहादुर पद्मनारायन के लड़के, कपूरनारायन, पटने से बी० ए० पास करके लौटे थे। उन्हें अपने बाप, रायबहादुर की अक़बालबलन्दी से डिप्टी मैजिस्ट्रेटी मिलने वाली थी। यह .खुशख़बरी आसमान के, उस तबक़ पर, जहाँ .खुदा के ख़ास इकलौते लड़के प्रभु, ईसा-मसीह, बैठे रहते हैं, वहाँ तक पहुँच गई! दरवाज़े पर शहनाइयाँ बजने लगीं, और सारा शहर 'दावत' के लिए निमन्त्रित किया गया। दुर्भाग्य से हमारे साले साहब उन दिनों हमारे यहाँ तशरीफ़ लाए हुए थे। दावत की बात, और वह भी रायबहादुर की, जो आपके कान में अमृतधारा की भाँति पड़ी, तो आप बाँसों उछल पड़े। इमरती और रसगुल्ले से लेकर, सेब, दालमोठ, पूरी और ख़स्ता-कचौरियाँ तक और अङ्गूर, बेदाने, सेब, नासपाती से ले कर, अमरूद, आम, जामुन, कटहर, बड़हर तक की प्यारी सूरतें आपकी आँखों के सामने 'मिस माधुरी' की मुस्कान और 'कानन' के कटाक्ष की तरह एक क्षण में नाच गईं! आपके मुँह से लार चू पड़ी। आप जीभ चटका कर बोले—क्यों, भाई साहब, इन्हीं पदुम बाबू रायसाहब के यहाँ तो दावत है? बड़ी भारी तैयारी होगी क्यों?

मैंने उन्हें भाँपा और ज़रा मुस्कुरा कर कहा—हाँ, तैयारी का क्या पूछना, रायसाहब के ही यहाँ तो दावत है!

वे बोले—न्योता तो एक ही आदमी के लिए आया होगा न?

अब मैं हँस पड़ा, और उन्हें सब्र देता हुआ बोला...आप घबराइए नहीं, यह ब्राह्मण-भोजन थोड़े ही है; यह अमीरों की दावत है, इसमें किस घर से कितने आदमी आए, इसकी गिनती नहीं होती। आप दावत में शरीक होंगे!

मैंने देखा, मेरी इस सान्त्वना से साले साहब की बाछें खिल गईं। वे गद्गद हो कर बोले—तो, दावत तो शाम को होगी न?

मुझे उनकी आतुरता पर फिर हँसी आई। बोला—हाँ, दावत शाम को ही होगी, और अब तो शाम भी हो ही चली। क्यों!

साले साहब ने मेरी इस चुटकी का मर्म समझा! वे ज़रा लज्जित हो गए!

शहर के अलग-अलग उम्र के लोगों के दल जुदा-जुदा बैठे थे! बूढ़े लोग रायसाहब के समीप बैठे थे। प्रौढ़ लोगों की पार्टी अलग थी, और हम युवकों का दल जुदा था। जब हमारे दल वालों को हमारे साले साहब का परिचय प्राप्त हुआ, तो सब के सब आप पर भूखे भेड़ियों की तरह टूट पड़े। 'आइए, बिराजिए, पधारिए' की आवाज़ों से इतना शोर मच गया, मानो राष्ट्रपति का ५२ हाथी वाला रथ निकला हो। आदाब-बन्दगी की इतनी बेशुमार झड़ी लगी—बाक़ायदा उठ-उठ कर बड़े अदब व तहज़ीब से—कि जान पड़ा, नबाब वाजिद अली शाह महफ़िल को रौनक़-अफ़ज़ाई फ़रमाने के लिए तशरीफ़ लाए हैं! मैं तो इन शैतानों से वाक़िफ़ था जानता था, इन्हें छेड़ना बर्रों के छत्ते में हाथ डालना है, पर साले साहब की उतरी व घबराई हुई सूरत पर नज़र पड़ी तो दया आ गई। दबी ज़बान से कहा—अरे, भलेमानुसों, बेचारे पर ज़रा रहम भी तो करो।

"रहम! रहम! वाह, यह तो ख़ूब कही! क्या इन्हें हम क़त्ल किए देते हैं जी! अरे, हम तो इन्हें अपने सर-आँखों पर बिठाने को आमादा हैं!" सब के सब एक साथ बोल उठे!

गनेसू, जो शरारती नम्बर एक था, बोला—और यदि सर-आँखों पर बैठने में आप को कोई तकलीफ़ हो, तो मैं अपने पहलू में आपको बिठाने को तैयार हूँ। वहाँ काफ़ी आराम है।

अब धनेसू का भी कण्ठ खुला। वह बड़े तपाक से बोला—मगर भैया! पहलू में आँख वाला आराम व मज़ा कहाँ, वहाँ तो सिर्फ़ गर्मी ही गर्मी है। मज़ा तो वहाँ है, जहाँ सभी मौसम एक साथ मौजूद हों, और सब मौसम—यानी जाड़ा, गरमी व बरसात—तो सिर्फ़ बरसात में ही मिलते हैं, इसीलिए इस मौसम की उस्तादों ने बड़ी तारीफ़ को है, और बरसात का मज़ा तो सिर्फ़ आँखों में है। एक शायर ने क्या ही अच्छा कहा है—

मज़ा बरसात का चाहो, तो इन आँखों में आ बैठो!
स्याही है, सफ़ेदी है, शफ़क़ है, अब्रे-बाराँ है!!

'वाह! वाह!! मुकर्रर इर्शाद!! क्या कहने? क्या कहने!!' की बेतहाशा चीं-पों से कमरा काँप उठा। मैं समझ गया, ये शैतान अब न

मानेंगे। साले साहब इन बेकारों की दिल-बस्तगी के लिए अच्छे शग़ल मिले! इतने में कपूर सूट-बूट के साथ हमारे दल में आए। सब को झुक-झुक कर उन्होंने 'नमस्ते' कहा, हाथ मिलाया, और 'जीमने चलने' का निवेदन किया।

साले साहब सबसे पहिले उठे। बेचारे इसी 'दावत' के लिए तो यों काँटों में घिसट रहे थे, पर टलते न थे। वे पर झाड़ कर उठे, और सबसे आगे बढ़े।

कपूर ने मुझे परोसने को भिड़ा दिया। पड़ोसी जो था! पड़ोसी के नाते मुझे इतना काम तो करना ही चाहिए था। मुझे बुरा तो इतना लगा, मानो शर्बत के बदले मुझे 'एडवर्ड-टॉनिक' पिला दिया गया हो, पर क्या करता, परोसने लगा!

चीज़ें तो बहुत थीं, पर देखा साले साहब पुलाव पर हाथ धो कर जुट गए हैं, ख़ूब सफ़ाया कर रहे हैं। मुझे मालूम था, उनका पेट पुलाव-सी गरिष्ठ चीज़ कितना पचा सकता है। फिर भी खाने के लिए जिस क़दर वे कमर कसे बैठे थे, मुझे संन्देह हो रहा था, कहीं यहीं पर डॉक्टर की ज़रूरत न पड़ जाय! मैंने आहिस्ता से कहा—ज़रा सँभल कर खाइएगा। भालू की भाँति छः मास का भोजन और ऊँट की तरह इक्कीस दिन का पानी एक ही बार पेट में न धर लीजिएगा। जिन्दा रहिएगा, तो ऐसी-ऐसी दावतें बहुत खाइएगा, समझे?

गनेसू, साले साहब के समीप ही बैठा था, वह मेरी बातें सुन कर बोला—"अरे, तुम भी भाई अजीब खोपड़ी के आदमी हो! खाने दो बेचारे को, छेड़ते क्यों हो? कल कौन मरेगा और कौन जिन्दा रहेगा, तुम्हारे पास इसकी कोई सूची है? अरे, आज सामने खाना है और खाना क्या है, वाह वा! ख़ासा बैकुण्ठ का भोजन है, जी-भर खाने दो। कल का कल पर छोड़ दो। हाँ, भाई साहब वह साले साहब को बढ़ावा देता, उनसे बोला—"खाइए, ख़ूब घुट कर, और वाह! आप तो खाने के बड़े शौक़ीन निकले, चुन-चुन कर अच्छी-ही-अच्छी चीज़ें खाते हैं। डरिए मत, खाइए-खाइए! हम लोग क्या इनकी (हमारी) तरह मन्दाग्नि वाले थोड़े ही हैं! यहाँ तो

मेहमाननवाज़ी

कप्तान साहब चमेली की लतर में घुटने टेक कर बैठे थे और पत्तों की ओट से बेगम की तरफ़ घबराई हुई नज़रों से झाँक रहे थे ! पृष्ठ १०१

पत्थर भी पचा जाएँगे !" फिर गनेसू ने हाँक लगाई—"अरे ओ जी, ओ, देना आपको थोड़ा-सा पुलाव !"

फिर तो जो चीज़ भी परसने को आती, चाहे और कोई ले या नहीं, पर सब के सब साले साहब को दिखा कर कहने लगते, "क्या है, रसगुल्ला ? आपको दो। क्या है, लड्डू ? आपको दो। क्या है, अङ्गूर ? आपको दो ! क्या है, दालमोठ ? आपको दो !"

और इस 'आपको दो, आपको दो' का नतीजा यह हुआ कि साले साहब की पत्तल और प्यालियाँ कभी खाली नहीं हुईं। इस पर भी साले साहब को शर्म न आई। वे समझ ही नहीं सके, कि लोग मुझे बना रहे हैं। साथ ही अपने पेट की शक्ति का भी ज्ञान न रहा, आखिर वह अफर कर फट जाएगा, या सही-सलामत बचेगा ! ठूँसते गए। एक पर एक लड्डुओं के रद्दे रखते गए ! तिस पर इन बदमाशों की शरारत, यदि वे हाथ रोकें भी, तो ये शैतानी करें—"आह ! इमरती छोड़ रहे हैं, क्या लाल-लाल तली है घी में ? अरे, खतम कीजिए साहब, किसी शरीफ़ की चीज़ को यों बरबाद न करनी चाहिए ! ज़बान तो है, टान जाइए। एक डकार लीजिए, और सब साफ़ !"

मैं भगवान का स्मरण कर रहा था, जल्द यह आफ़त खतम हो। खा रहे थे साले साहब, और होश हवा हुआ जा रहा था हमारा ! कहीं मर न जाय कम्बख्ती का मारा ! तो फिर सारी ज़िन्दगी ससुराल वालों के उला-हने सुनने पड़ेंगे। इस अहमक़ को कोई दोष न देगा। और न भी मरे, तो कहीं कॉलरा हो जाए तो फिर डॉक्टरों की फ़ीस, डिस्पेन्सरी का बिल चुकाते-चुकाते तो दिवाला पिट जायगा।

ख़ैर, भगवान ने पुकार सुनी, भोजन समाप्त हुआ। साले साहब के घर भेजा। मगर मेरा ध्यान उधर ही था। प्रतिपल यह शङ्का हो रही थी, 'अब कोई आ के कहता है, साले साहब को महामारी हो गई, जल्द घर चलिए।' ज़रा भी; कुछ भी चों-चाँ किसी के गमनागमन की आवाज़ सुनते ही, मेरे कान कुत्ते की तरह खड़े हो जाते।

और इस बदक़िस्मती का इन्तज़ार फ़िज़ूल न हुआ। कल्पना साकार हो सामने आ कर ही रही। मैं पत्तल पर बैठा ही था, कि मेरा बूढ़ा नौकर

भज्जूराम हाथ में डण्डा और लालटेन लिए भागता भागता आया, और हाँफता-हाँफता आ कर बोला—"बबुआ जी सरकार, लाला जी (साले साहब) के पेट में बड़ी पीड़ा है, और मतली भी हो रही है। खाट पर पड़े-पड़े छटपटा रहे हैं। बहू रानी ने आपको जल्द बुलाया है।"

अब मुझे घबराहट नहीं, गुस्सा हो रहा था। सर पीटता हुआ पत्तल पर से उठ-दौड़ा। देखा, सचमुच मूर्खराज खाट पर पड़े बड़ी बेचैनी से करवटें बदल रहे थे। उनकी बहन, हमारी श्रीमतीजी, चिन्तित मुद्रा से हवा कर रही थीं। वे मुझे देखते ही बोलीं—"हाय! हाय! इसे क्या खिला लाए? ग़ैर का लड़का, वह भी एक ही, जब से दावत से लौटा है, रेत पर पड़ी मछली की तरह छटपटा रहा है।"

मुझे तो आग लगी ही थी, "क्या खिला लाए।" सुन कर सारे शरीर में वह भड़क उठी। मैं ग़ुस्से से पागल हुआ जा रहा था। चिल्ला कर बोला—"मैं खिला लाया। उल्टे चोर कोतवाल को डाँटे! आप ही ने तो ख़ूब ठूँस-ठूँस कर खाया। मैने मुँह खोल के सब के सामने मना भी किया कि इतना न खाओ! पर ये तो ऐसे हो रहे थे जैसे इन्होंने कभी पूरी-कचौरी की सूरत देखी ही नहीं, और ये सब चीज़ें फिर इन्हें कभी मिलेंगी ही नहीं। अघोरी की तरह ठूँस-ठूँस कर खाते गए। पूछो ना! मैं क्या करता! इनके मुँह से कौर छीन लेता!"

मेरी स्त्री बोलीं—"मान गई। जाने दो। माफ़ करो। ग़लती तो अब हो ही गई इससे अब इसे बचाओगे या मार कर जन्म भर का अपयस लोगे?"

मैं झुँझलाया-सा बोला—"सो तो मैं पहिले ही समझे बैठा था। यह 'बिल' चुकाना पड़ेगा मुझे! लाओ हैं रुपए? डॉक्टर बुलाऊँ!"

रुपए की बात सुन कर अब वे भी झल्लाईं, क्योंकि उन की जान में रुपया ही परम-पद था। बोलीं "आग लगे इस निगोड़ी दावत-फावत में...।"

मैं उन्हें फटकारता हुआ बोला—"वाह ख़ूब रही! नाच न जाने आँगन टेढ़ा! इन हज़रत के पेट में आग नहीं लगातीं, जो मना करने पर भी चढ़ाते गए! दावत का क्या दोष!"

वे बोलीं—"भई, इस वक़्त डॉक्टरों को बुलाने के लिए रुपया हमारे पास नहीं है, जाओ इन्हीं बग़ल वाले कविराज को लेते आओ।"

मैंने कहा—"तुम जहाँ कहो मैं जाता हूँ, पर यह बीमारी कविराज के बूते न सँभलेगी, जैसी यह 'सीरियस टाइप' की हो गई है!"

उन्होंने कहा—"पहिले कविराज के यहाँ जाओ भी तो फिर जैसा होगा, वैसा देखा जायगा।"

मैं चला, कविराज बाबू का बासा हमारे मकान के बग़ल में ही था। कविराज एक तो बूढ़े आदमी, दूसरे कम सुनने व कम बोलने वाले; तीसरे सरेशाम जो वे चवन्नी-भर अफ़ीम घोल के पी कर सो रहते, तो फिर चाहे संसार में भूकम्प हो जाए या पड़ोस में आग ही क्यों न लग जाय और साथ ही उनका भी भवन भस्म हो जाय, उन्हे इसकी कोई ख़बर नहीं रहती। चिल्लाते-चिल्लाते कण्ठ सूख कर काँटा हो गया, सीने में दर्द होने लगा, और मैं समझता हूँ कुम्भकर्ण को जगाने के लिए भी इतना शोर न मचाया गया होगा। इतनी चीख़ पर चार योजन वाले कानों के पर्दे फट जाते। मगर वाह रे कविराज! ये कुम्भकर्ण के भी पुरखे निकले! तब मैंने क्रोध से ईंटों के बड़े-बड़े टुकड़े उठा कर फेकने शुरू किए। ८-१० टुकड़े फेक डाले, ग्यारहवाँ टुकड़ा संयोग से उनके सीने पर गिरा, और वे बौखलाए-से उठ कर लगे चीख़ने "ओ रे बाबू लोक! भूमिकम्प फिर आया, फिर आया, भागो, भागो!" फिर वे भागे। इनके चीत्कार से मुहल्ले वाले भी कुछ जागे। पर मैंने, उन्हें बता दिया कि मैं पुकार रहा हूँ, और कोई चिन्ता की बात नहीं, आप लोग आराम करें।

कविराज बाबू बाहर आए और मुझे खड़ा देख कर बड़ी बेचैनी से बोले—"तुमी कोन लोक! भूमिकम्प आया!"

मैंने कहा—"अजी मैं हूँ कविराज बाबू जरा कष्ट कर मेरे घर चलिए, हमारे साले साहब के पेट में बड़ी पीड़ा हो रही है। वे बड़े बेचैन हैं!"

कविराज बाबू घबराए-से बोले—"क्या बोला, पेट में बड़ा पीड़ा। रे बाबा, ई की! पेट में कीड़ा किस माफ़िक घुसा?

इस क्रोध और व्यग्रता में भी मुझे हँसी आ गई। बोला—"कीड़ा नहीं पीड़ा!" कविराज—"आयँ! पीढ़ा क्या बोला! उसका पेट में पीढ़ा चोला गिया? राक्षस क्या है? अरे बाबा उत्रह पीढ़ा कैसे खाते माँगा।"

मिनिट-मिनिट की देर मेरे लिए कल्पवत् हो रही थी। कान घर की

ही ओर लगे थे, कहीं हाहाकार न सुन पड़े ! इस कल्पना-मात्र ने मेरे रोंगटे खड़े कर दिए। घबराया-सा बोला—"चलिए न, रोगी की हालत सब वहीं सुन लीजिएगा विलम्ब करने से ख़तरे का ख़ौफ़ है।"

कविराज को किसी प्रकार धर-पकड़ कर लाया। इधर साले साहब की पीड़ा प्रोषित-पतिका की रात की तरह लम्बी हुई जा रही थी; आँखे धँस गई, दाँत काले पड़ चले और कहारना मजनूँ की आह बन गई। एक क्षण भी मुँह बन्द नहीं ! ज़ोर से 'आह-आह' 'हूः हूः' 'ओ ओ' करते करवट बदल रहे थे। कविराज बाबू इन्हें देखते ही बोले—"नेई, नेई, इसका पेट में कीड़ा पीढ़ा कुछ नई गिया, इसे 'हाइड्रो फ़ोबिया' हो गिया है।

"यह हाइड्रो फ़ोबिया क्या बला !" हम दोनों पति-पत्नी अवाक् से कविरज बाबू का मुँह ताकते रहे। उन्होंने हमारे भावों को भाँपा और कहा—'हाइड्रा फ़ोबिया' बूजा (बूझा) नेई ? इसको कुत्ता काटा है !

मैंने कहा—"इनको तो कुत्ते ने कभी नहीं काटा कविराज बाबू ! हाँ इनकी अक्ल को कुत्ते ने ज़रूर काटा जो आज रायबहादुर की 'दावत' में शरीक हो मौत को 'दावत' दे आए। इन्हें अजीर्ण हो गया है, कविराज बाबू ज़रा ठीक से देखिए।"

कविराज, अपनी कविराजी के साधिकार शब्दों में बोले--"देखा बाबा ख़ूब देखा इसको कुत्ता काटा है, पटना या शिमला भेजो, अबी, अबी, तुरत, तुरत, अभी 'ट्रेन' का 'टाइम' हाय !"

हमने लाख कहा,—"कुत्ते ने नहीं काटा अजीर्ण है, ठीक देखिए।" मगर इस अफ़ीमची कविराज ने अपनी पिनक की झोंक में मेरी एक न सुनी। चलता बना। हाँ इस पिनक से एक फ़ायदा मुझे ज़रूर हुआ कि यह अपनी फ़ीस लेना भूल गया। पर इससे क्या, फिर तो मुझे फ़ीस चुकानी ही पड़ी। अब साले साहब का क़ै-दस्त दोनों खुल गया और पेट-पीड़ा भयङ्कर महामारी के रूप में प्रगट हुई !
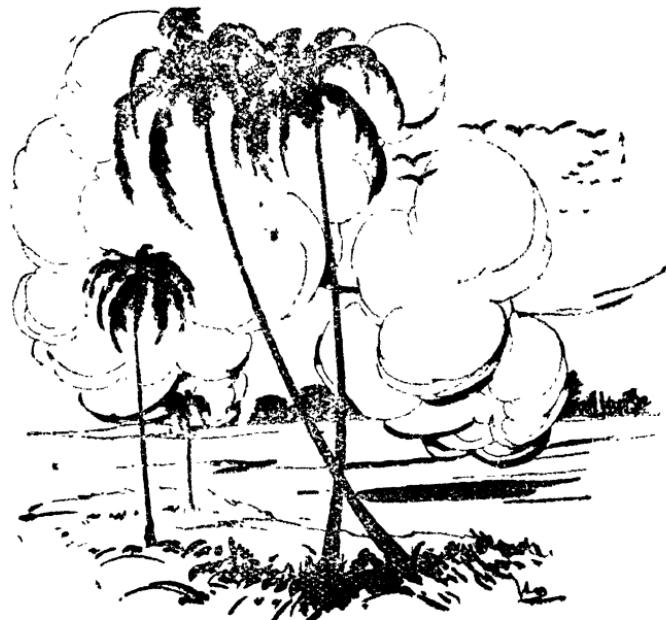
साले साहब लगे 'ओ ओ' करने, और गनेसू, महेसू, रामू, दीनू, सब को चुन-चुन कर गालियाँ देने, और उनके सात पुरखों का गोत्रोच्चार करने। पर गनूसू महेसू की कृपा से इन्हें महामारी भले हो गई, पर उन्हें गालियाँ सुनाने से महामारी थोड़े भागती ! वो भागी इञ्जेक्शन से। नस काट कर पानी

चढ़ाया गया, तब कहीं जा कर उसको शान्ति हुई। कुल दो ढाई घण्टे में पौने तीन आने कम तीस रुपए हमारे चटनी की तरह डॉक्टरों ने चट कर लिए!

यह है दावत का मजा! यह मजा है या सजा?

*

गत एतवार को सुबह अख़बार में जब कप्तान ज़हदी की शोकजनक मृत्यु का समाचार निकला, तो हम सब के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, कि आख़िर इतनी जल्दी उनके प्राण-पखेरू कैसे उड़ गए।

गत बृहस्पति ही की तो बात है, कि रात को बेगम नज्म के घर एक शानदार डिनर था। उसमें हम सभी सम्मिलित थे, और सबने कप्तान को देखा था। या ख़ुदा, इतनी जल्दी उन्होंने अपना भौतिक शरीर त्याग दिया! शोक! महाशोक!!

जब बेगम नज्म के यहाँ से हमारे नाम निमन्त्रण-पत्र आए, तो हमारे आश्चर्य की सीमा न रही! मित्र-मण्डली में बातें होने लगीं, कि 'आज चाँद किधर से निकला? ये तो क़यामत के आसार मालूम होते हैं,' इत्यादि। क्योंकि जीवन में इस बात का ख्याल तक न हो सकता था, कि कभी बेगम और जनाब नज्म भी मेहमानों का भार उठा सकेंगे।

अतएव हम सब बड़ी उत्सुकता से नियत समय उनके यहाँ पहुँच गए। खाने के बाद सब लोग आग के पास बैठे चमकीली प्यालियों में क़हवा पी रहे थे। उस समय तक कप्तान ज़हदी को कोई जानता भी न था; क्योंकि मेहमान काफ़ी संख्या में मौजूद थे, और बड़ा हॉल खचाखच भरा हुआ था। फिर ज़हदी साहब में कोई चमकीली चीज़ तो लगी न थी, कि लोग विशेष रूप से उनकी ओर आकर्षित होते।

खाने के बाद आग के पास बैठे-बैठे यकायक मुझे ख्याल आया और

मैंने बेगम नज्म से कहा—"आप लोगों को शायद पता नहीं, कि कप्तान ज़हदी ज्योतिष के आचार्य हैं और हाथ खूब देखते हैं।"

बस, यही एक वाक्य बेचारे की मृत्यु का कारण बन गया! सारे मेहमान उनकी ओर आकर्षित हो गए। ऐनकों के नीचे से, ऊपर से, बीच में से उन्हें देखने लगे। पलक मारते में उनके चारों तरफ़ मेहमानों का एक हलक़ा बन गया। स्त्रियाँ विशेष रूप से आकर्षित हुईं।

अब खुली हुई हथेलियाँ कप्तान ज़हदी के आगे पेश की जा रही थीं, और बेचैनी के साथ लोग कह रहे थे, कि 'हमारा हाथ देखिए, हमारा भाग्य बताइए!' बेचारा किस-किस की इच्छा पूरी करता, वह अजीब मुसीबत में था।

पन्द्रह-सोलह ही हाथ देखे थे, कि वे मेहमानों के बीच सर्वप्रिय हो गए।

जब बेगम नज्म के हाथ की पारी आई, तो उनका रङ्ग कुछ उड़-सा गया! शायद इस बात की आशङ्का उन्हें भयभीत कर रही थी, कि कहीं हाथ से कोई ऐसी अनुचित बात न प्रगट हो जाय, जो उन्हें मेहमानों में लज्जित करे, जैसे उनकी कृपणता।

परन्तु स्वर्गीय कप्तान ने बड़ी शिष्टता दिखलाई। कुछ देर बेगम नज्म का हाथ ध्यानपूर्वक देखते रहे, फिर मुस्कुरा कर कहा—"देवी जी, आप बहुत उदारमना और दयालु हैं, हाथ से यही प्रगट होता है।"

यह सुनते ही मेहमानों में एक हलचल-सी मच गई। मानो एकदम बहुत-सी मक्खियाँ भनभनाने लगीं। कहीं काना-फूसी, कहीं टीका-टिप्पणी, किसी के मुँह से धीरे से फ़िक़रा निकल रहा था, कोई हँस रहा था, कोई मुस्कुरा रहा था, किसी ने हँसी छिपाने को मुँह फेर लिया, कोई ठहाका दबाने को मुँह पर रूमाल रख कर बाहर निकल गया!

कमरे के इस वातावरण को देख कर बेगम नज्म बहुत परेशान हुईं। समझ गईं, कि यह हलचल किस बात ने पैदा की है। घबरा कर कप्तान ज़हदी का चेहरा देखा, कि कहीं वह तो कुछ नहीं ताड़ गए। वह बेचारा झेंप और परेशानी की हालत में एक-एक का चेहरा देख रहा था। मानो पूछना चाहता था, कि क्या भूल कर बैठा है? बेगम नज्म उन्हें अधिक

सोचने का मौक़ा देना नहीं चाहती थीं, वे खिलखिला कर हँस पड़ीं और बोलीं—"कप्तान साहब, आप कल हमारे मेहमान रहिए और यहीं रात बिताइए—कल तो छुट्टी का भी दिन है।"

बेगम नज्म बहुत प्रसन्न थीं, क्योंकि मामला बिलकुल उलटा था। आज का शानदार डिनर भी ख़ैराती रुपयों से हुआ था, यद्यपि यह प्रगट किया गया था, कि दावत नज्म साहब और उनकी बेगम की तरफ़ से है!

बेगम नज्म की इस दावत ने फिर कमरे में काना-फूसियों और दबे हुए ठहाकों की एक लहर दौड़ा दी। बेगम नज्म दिल ही दिल में पेच-ताब खा रही थीं। उनकी साँस तेज़ी से चलने लगी थी।

स्थिति का अध्ययन करके हमारे मेज़बान नज्म साहब ने भी ज़ोर देना उचित समझा और बोले—"हाँ जनाब, ठहर जाइए, कल चले जाइएगा।"

उदारता में वे अपनी पत्नी से दो हाथ बढ़े ही हुए थे। उस समय अपनी श्रीमती जी की प्रशंसा सुन कर वे भी बहुत प्रसन्न थे।

कप्तान ज़ाहदी की मुरव्वत प्रसिद्ध थी। वे किसी बात पर इन्कार कर भी देते, तो ज़रा-सा आग्रह उन्हें विवश कर देने को काफ़ी होता था। (आह! अब कहाँ हैं लोग इस तबीयत के) अतः सब मेहमान विदा हो गए और अभागा कप्तान ठहरा लिया गया।

मेहमानों को विदा करते समय बेगम नज्म की मुस्कुराहट साफ़ कह रही थी कि मेरे विषय में जिस प्रकार की अनुचित राय तुम सबने क़ायम कर रक्खी है, उसके बारे में कल के बाद कप्तान ज़ाहदी से गवाही लेना।

●

दोनों मेज़बान अपने मेहमान से बहुत प्रसन्न थे और उस पर अपनी उदारता का सिक्का जमाना चाहते थे।

सुबह की चाय पर बेगम नज्म मुस्कुरा कर कहने लगीं—"कप्तान साहब, आप तो कुछ भी नहीं लेते। भई, यह तकल्लुफ़ हमें अच्छा नहीं लगता। कम से कम सेब का मुरब्बा तो लीजिए।"

नज्म साहब टोस्ट पर मक्खन लगाते हुये बोले—"सेब का मुरब्बा

तो इख़्तलाजे-क़ल्ब (हृदय-धड़कन) के मरीज़ों की ग़िज़ा है। हमारे मेहमान को आप स्ट्रॉबेरी-जाम क्यों नहीं देतीं ? और मलाई भी दीजिए !"

कप्तान साहब में मुरव्वत बेहद थी। वे बोले—"मैं तीनों चीज़ें ख़ुशी से ले लूँगा।"

"और थोड़ा-सा ठण्डा गोश्त।"—बेगम नज्म ने मुस्कुराते हुए कहा— "आजकल सुबह के नाश्ते में ठण्ढा गोश्त बहुत मज़ा देता है।"

कप्तान इन्कार करना नहीं जानते थे। इसलिए बोले—दीजिए।"

"इस पर टमाटर के क़तले भी ज़रूर रक्खो।" नज्म साहब ने कहा—"और आलू के दो-एक टुकड़े भी।"

"इसके बाद।" बेगम नज्म कहने लगीं—"आपको दो केले, एक प्याली मीठा ताज़ा दूध और एक प्याली गर्म चाय भी पीनी होगी।"

"मगर देवी जी !" कप्तान ने डरते-डरते कहा—"यह तो मेरे लिए बहुत अधिक है। इतना मैं नहीं खा सकता...!"

"ऐं आप इन्कार करते हैं !"—बेगम नज्म ने कहा।

"जी नहीं...!"कप्तान ज़हदी ने अपने होंठों पर मुस्कुराहट पैदा करते हुए कहा—"इन्कार तो नहीं; ख़ैर, पी लूँगा।"

चाय खत्म हुई। कप्तान ज़हदी और नज्म साहब सिगार ले कर बग़ीचे की सैर के लिए चले गए।

थोड़ी देर में बेगम नज्म भागी-भागी बग़ीचे में पहुँचीं—"कप्तान ज़हदी ! कप्तान ज़हदी !! आपने, ग़ज़ब कर दिया ! पोरेज नहीं खाया ? कितने दुःख की बात है ! आज सवेरे मैंने अपने हाथ से अपने शयनागार के बिजली के चूल्हे पर आपके लिए तैयार किया था।"

नज्म साहब मुँह में सिगार दबाए हुए धीरे से कहने लगे—"तो क्या हुआ, अब खा लेंगे।"

"जी नहीं...!" काँपती हुई आवाज़ में कप्तान साहब ने कहा—"जी नहीं......!"

"नहीं, नहीं !" बेगम नज्म कहने लगीं—"आपको खाना होगा, मैं अपने मेहमानों को कभी भूखा नहीं रख सकती।"

नज्म साहब गर्व के साथ बोले—"यह मेरी बीबी की आदत ही नहीं। ये हमेशा अपने मेहमानों की बेहद् ख़ातिर करती हैं। कोई खाने का शौक़ीन इन्हें मिल जाय। बस, फिर क्या है, अन्धों को क्या चाहिए, दो आँखें। जिस मेहमान को एक बार भी मेरी बीबी की मेहमानदारी का तजुर्बा हो जाय, वह हर जगह इसकी तारीफ़ करता है।"—यह कह कर वह कप्तान जहदी की ओर इस तरह निहारने लगे, मानो देख रहे हैं, कि इस परिवार की उदारता का लोहा वे मान गए, या नहीं!

"मगर जनाब!" घबराए हुए स्वर में मुरव्वत के मारे हुए मेहमान ने कहा—"खाने का शौ......शौक़ीन......तो मैं......!"

"आपको खाना पड़ेगा, दोस्त!"—कहते हुए स्वयं बेगम नज्म ने अपने मेहमान का पहलू थाम लिया। अब भला एक भद्र महिला की बात से कौन भला-मानुस इन्कार कर सकता है। कप्तान जहदी क़ैदी की तरह सिर झुकाये भोजन के कमरे की ओर चले। दोनों मेज़बान कॉन्स्टेबिल की तरह दाएँ-बाएँ हो लिए।

कप्तान साहब ने कुर्सी पर बैठ कर नेपकिन फैला लिया और दोबारा नाश्ता करने बैठ गए।

पोरेज के ढाई चमचे खाए थे, कि यकायक कप्तान साहब का चेहरा अजीब ढङ्ग का हो गया। आँखें खुल-सी गईं, मुँह गोल बन गया, दोनों मेज़बान इस परिवर्तन को आश्चर्यपूर्वक देखने लगे। बात यह थी, कि डकार आने लगी थी, और कप्तान साहब बड़ी कोशिश से उसे रोक रहे थे।

आख़िर चौथे चमचे पर बेचारे को डकार आ ही गई। वे लज्जित हो कर अपने मेज़बानों का चेहरा देखने और क्षमा-प्रार्थना करने लगे।

"कोई हर्ज नहीं!" बेगम नज्म कहने लगीं—"ऐसा हो जाता है। थोड़ा-सा चूरन खा लीजिएगा।"

"जी, ज़रूर खाऊँगा!"—यह कहते हुए उन्होंने नेपकिन से मुँह पोंछा और अपने कमरे की ओर भाग गए।

अब दोपहर के खाने की आफ़त आने वाली थी। कप्तान जहदी की अवश्य ही यह कामना थी, कि आज दिन भर वे बिना भोजन के, कमरे में अकेले छोड़ दिए जायँ। परन्तु सबकी मनोकामनाएँ पूरी नहीं होतीं। और

जो कामना पूरी हो जाय, वह कामना हो क्या? ठीक एक बजे मेज़बान ने स्वयं आ कर द्वार खटखटाया।

"कप्तान साहब! कप्तान ज़हदी! खाना तैयार है।"

कप्तान साहब की रूह काँप गई।

"खाना ठण्ढा हो रहा है!"—बेगम नज्म की आवाज़ आई।

बड़े साहस के साथ अभागे कप्तान ने कहा—"देवी जी, मुझे क्षमा करें, मेरी तबीयत ख़राब है!"

"तो फिर खिचड़ी खा लीजिए न।"

मुरव्वत ने कुछ और न कहने दिया। लड़खड़ाते हुए कप्तान ज़हदी अपने कमरे से निकले। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। खाने की मेज़ पर तीनों बैठ गए।

"आज मेरा चित्त कितना प्रसन्न है!" बेगम नज्म ने मछली का एक टुकड़ा काँटे में पिरोते हुए कहा।

"क्यों प्रसन्न है?" नज्म साहब ने पूछा, कि जिससे प्रसन्नता का विस्तृत कारण बताया जा सके।

"क्यों क्या?"—बेगम नज्म ने मुस्कुरा कर कहा—"आप मेरी आदत जानते ही हैं, कि जब कोई मेहमान आता है, तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है। मैं चाहती हूँ, कि मेरे यहाँ हर हफ़्ते कोई मेहमान आए, और अच्छे-अच्छे खाने पकें।

"सुना आपने, कप्तान?"—नज्म साहब ने अपनी सीधी भौं चढ़ा कर गर्वपूर्ण स्वर में कहा—"सुना आपने? मेरी बीबी की मेहमानदारी का शौक़। सचमुच मुझे उन लोगों पर आश्चर्य, बल्कि दुःख होता है, जो मेहमानों से सिर्फ़, इसलिए घबराते हैं, कि वे उनका सब कुछ खा जाएँगे। आख़िर ये लोग अपना रुपया क्या अपनी क़ब्र में ले जाएँगे?"

"जी नहीं, ले कैसे जा सकते हैं?"—जल्दी से कप्तान ज़हदी ने जवाब दिया। वास्तव में उनका जी मतला रहा था।

"मछली लीजिए!"—बेगम नज्म ने कहा।

"दीजिए।"—कप्तान ने अपनी रकाबी आगे बढ़ा कर उदास स्वर में कहा।

सुबह ही बेगम नज्म ने रोज़ की तरह अपने रसोइए को ताकीद कर दी थी, कि बाज़ार में जो सब से सस्ती मछली मिले, वह ले आए। अतः वह सड़ी हुई मछली ले आया। यह खा कर कप्तान बेचारे की तबीयत और बिगड़ी!

"ऐं, आपने मिर्चों का सालन नहीं लिया?"

कप्तान जह्दी घबरा कर मिर्चों के सालन वाली प्लेट को ताकने लगे।

"ख़ुदा के लिए लीजिए।"—नज्म साहब कहने लगे।

ठण्ठी साँस भर कर कप्तान ने कहा—"दे दीजिए।"

"जब फलों की बारी आई, तो मेज़बानों के आग्रह से बहुत पहले स्वयं मेहमान ने जल्दी-जल्दी दो केले छील कर खा लिए, तीन नारङ्गियाँ खाईं और यह समझ लिया कि छुटकारा मिल गया। अतः इतमीनान के साथ उन्होंने मेज़बानों के चेहरों पर नज़र डाली। कुर्सी से टेक लगा कर बैठने वाले थे, कि बेगम नज्म ने कहा—"ऐं, पपीता नहीं खाया आपने?"

कप्तान साहब का चेहरा फ़क हो गया। बस मुँह से इतना ही निकला—"नहीं।" फिर हिम्मत करके कहा—"मगर अब तो......।"

"लीजिए, लीजिए।" नज्म साहब कहने लगे—"पपीता तो ज़रूर खाना चाहिए।"

कप्तान जह्दी की आँखों-तले अँधेरा छा गया—"दे दीजिए...... आह......!"

बेगम नज्म तुरन्त बोलीं—"यह क्या? आप कुछ उदास दीख रहे हैं?"

"जी नहीं, मैं बिलकुल अच्छा हूँ......बिलकुल।"

"बात यह है," नज्म साहब अपने दोनों गालों में एक-एक केला सँभाल कर कहने लगे—"कप्तान साहब तकल्लुफ़ करते हैं।"

कप्तान साहब को तकल्लुफ़ के नाम से बड़ा डर लगा, कि कहीं कोई और मुसीबत न आए। इसलिए जल्दी से कहा—"जी नहीं......ख़ुदा की क़सम तकल्लुफ़......!" बाक़ी शब्द गले में फँस कर रह गए।

"ठहरिए, मुझे एक और चीज़ याद आई।"—बेगम नज्म ने कहा।

कप्तान का दिल एञ्जिन के पुर्ज़े की तरह तड़पने लगा। बेगम ने अपना वाक्य पूरा किया—"आलमारी में अख़रोट की मिठाई रक्खी है। मैंने उसे बड़े चाव से तैयार किया है, उसे आप ज़रूर खाएँ।"

"मैं क्षमा चाहता हूँ, देवी जी।"—यह कहते हुए घबराहट की हालत में कप्तान जह्दी ने कुर्सी पीछे को सरका दी। और बग़ीचे की तरफ़ पागलों की तरह भागे।

बेगम नज्म क्षण-भर बरामदे में खड़ी चकित हो कर उन्हें देखती रहीं, फिर अख़रोट की मिठाई की तश्तरी ले कर उनके पीछे दौड़ीं। "कप्तान साहब! कप्तान साहब!! आप कहाँ हैं?"

कप्तान जह्दी क्षण-भर शहतूत के पेड़ के पीछे छिपे बैठे रहे। जब बेगम नज्म की आवाज़ क़रीब आई, तो चमेली की लतर की ओर भागे।

"अख़रोट की मिठाई!"—बेगम नज्म की सुरीली आवाज़ गूँजी। कप्तान साहब चमेली की लतर में घुटने टेक कर बैठे थे और, पत्तों की ओट से बेगम की तरफ़ घबराई हुई नज़रों से झाँक रहे थे!

इतने में नज्म साहब दूसरी ओर से आ निकले। बड़े चकित हुए—"अरे, कप्तान साहब...!" फिर ज़रा निकट आ कर बोले—"एं, आप यहाँ क्या कर रहे हैं? कोई साँप...!"

कप्तान कपड़े झाड़ते हुए। "जी हाँ" साँप......।"

बेगम नज्म भी आवाज़ सुनकर आ पहुँचीं—"मैं कहाँ-कहाँ आपको ढूँढ़ती रही, यह लीजिए।"—यह कह उन्होंने तश्तरी बढ़ाई।

एक बहुत लम्बी साँस भर कर और दाहिने पहलू पर झुक कर कप्तान साहब मिठाई का एक टुकड़ा उठाने ही लगे थे, कि कुछ अकड़-से गए, यानी दाएँ पहलू पर झुके के झुके रह गए!

"एं, यह क्या हुआ, मेरे अल्लाह!"—बेगम नज्म बोलीं। मगर बेचारे कप्तान अब सीधे खड़े न हो सकते थे। मिठाई मुट्ठी में थी, और आँखें बन्द!

बड़ी मुश्किल से नज्म साहब ने उन्हें उठा कर कमरे में बिस्तर पर लिटा दिया। हालत बिगड़ चुकी थी। डॉक्टर आ पहुँचा, उसने मुट्ठी खोल

कर अख़रोट की मिठाई निकाल कर फेंकी। उसने देख कर बताया, कि कप्तान जहदी को हैज़ा हो गया है। इन्हें अस्पताल पहुँचाओ।

कप्तान जहदी अस्पताल भेज दिए गए। उसी रात को दो बजे बेचारे का स्वर्गवास हो गया। ता-क़यामत यह मेहमानदारी कप्तान जहदी याद रक्खेंगे, इसमें अब शक नहीं रह गया!
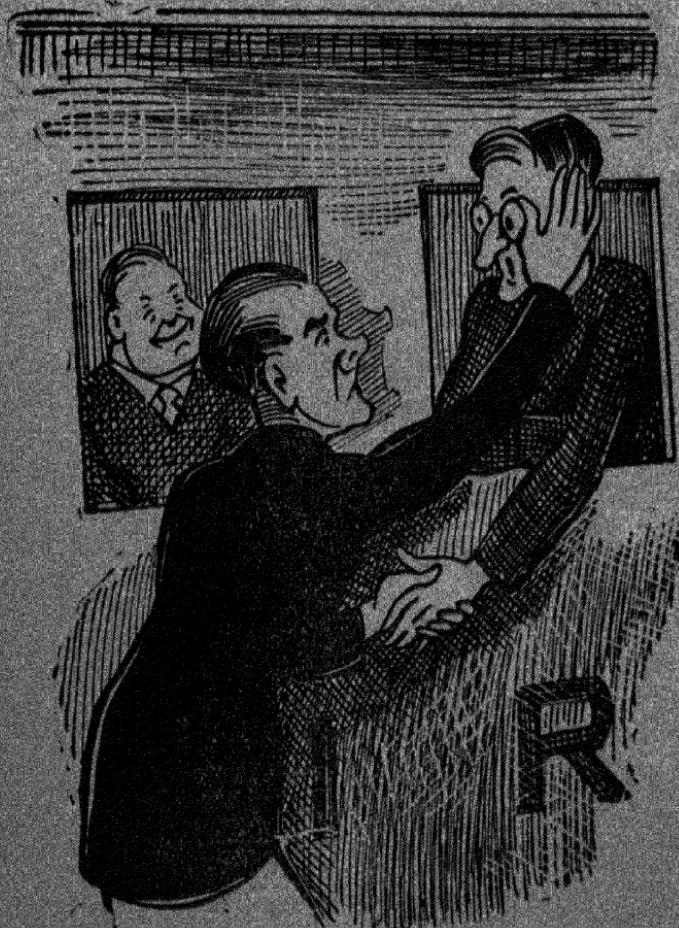
हम खालिस हिन्दुस्तानी क़िस्म के आदमी हैं, और हिन्दुस्तानियों की जङ्ग आजकल घर की चारदीवारी या ज्यादा से ज्यादा मुहल्ले और क़स्बे से आगे नहीं बढ़ती। परन्तु, हम जरा बहादुर और दिलेर हैं, इसलिए हमारी 'रङ्गभूमि' भी ख़तरनाक थी !!

बहादुरी से हमारा कुछ और अभिप्राय नहीं है। सम्भव है, आपका मस्तिष्क किसी दूसरी तरफ़ का विचार करने लगे, इसलिए हम इस शब्द की व्याख्या करने में जरा आपका समय लेना जरूरी समझते हैं। इस सिलसिले में हमें अपने बचपन के हालात भी संक्षेप में लिखने पड़ेंगे। पैदा होने के बाद, होश सँभालते ही, हमारे प्रिय सम्बन्धियों ने 'हौवे' से डरा-डरा कर हमारा पित्त पानी कर दिया था, और हम इतने 'कर्म-वीर' हो गए थे, कि रात में 'दीर्घ-शङ्का' को बाहर जाने के लिए हमें एक संरक्षक की आवश्यकता पड़ती थी। हमें विश्वास हो गया था, कि हम सिरजनहार की ऐसी सृष्टि हैं, जिसको गाय-भैंस, कुत्ता-बिल्ली, साँप-बिच्छू और कीड़े-मकौड़े तक जरा-सी असावधानी से 'स्वर्गीय' बना सकते हैं। पलङ्ग से उतरते वक़्त हम पहिले जूता पहन लेते हैं, फिर पाँव जमीन पर रखते हैं। हमारा विश्वास है, कि काँटा चुभ जाने से आदमी अगर मरता नहीं, तो दो-चार महीने डॉक्टर का 'तख़्त-ए-मश्क़' जरूर रहता है। हमारा यह साहस क्या कम है, कि बिना जुर्राब पहने जूता पहन लेते हैं, वरना हमें

बताया गया था कि यह अज्ञानतापूर्ण कार्य किसी समय मृत्यु का पूर्व-लक्षण बन सकता है। कभी-कभी जूते से कील निकल आती है, और पाँव को इस बुरी तरह जख्मी कर देती है कि फिर आदमी चलने-फिरने से भी रह जाता है।

आजकल लड़ाई में तीर, तलवार, खञ्जर और नेज़े की ज़रूरत नहीं हुआ करती; ये चीज़ें माशूक़ों के हिस्से में आ गई हैं, और आशिक़ों का शेरदिल गरोह हमेशा खाली हाथ मुक़ाबिला करने में अभ्यस्त है। चुनाञ्चे कभी घर में साँप निकल आता है, तो एक हाथ का डण्डा भी सारा घर तलाश करने पर नहीं मिलता। मगर यह सन्तोष की बात है, कि ऐसे मौक़ों पर मुहल्ले का हर बच्चा और जवान निहायत पुर-जोश 'रज़ाकार' बन जाता है, और 'साँप ! साँप !!' की आवाज़ सुनते ही सैकड़ों जवान, बच्चे, बूढ़े आ कर इस आक्रमण में सहयोग प्रदान करते हैं। और हम तो ख़ास तौर पर ऐसी ख़तरनाक हालत में मुहल्ले वालों में से किसी एक को फ़ौज की सरदारी के लिए नामज़द करके स्वयं उससे दस-पाँच हाथ पीछे ही रहते हैं। फिर भी कई बार ज़रूरी सूरतों में लड़ाई भयङ्कर रूप धारण कर लेती है और कहीं न सही, घर ही में कोई बात ऐसी हो जाती है, कि शाक की थाली से लेकर हाँड़ी, तक सारे बर्तन तोड़ डालने की नौबत आ जाती है। वह तो भला करे 'ख़ुदा एलमोनियम का, जिसने उगाल्दान से ले कर चायदानी तक तमाम मिट्टी और चीनी के बरतनों को पराजित करके अपना सिक्का जारी कर दिया है; वरना 'नसीबे-दुश्मनाँ' दस-बीस बरतनों का रोज़ाना सफ़ाया हो जाया करता। घर से भी आदमी भाग्यवश बच निकले, तो सड़क पर राह चलते, ताँगे में, मोटर या रेल में, ग़रज़ किसी न किसी जगह उसे लड़ना ही पड़ता है, क्योंकि हिन्दोस्तान में बावजूद 'शान्ति-भवन', 'शान्तिआश्रम' होने के भी, लड़ाई मनुष्य-जीवन के सभी अङ्गों में प्रधान पद ग्रहण किए हुए है। मोटर या ताँगे में, 'फ्रण्ट सीट' या 'बैक सीट' का तकाज़ा है। राह चलते किसी न किसी के टकराने पर हाथा-पाई हो जाती है। मोटर की फ्रण्ट सीट हासिल करने के लिए तो काउन्सिल के मेम्बरों से भी ज़्यादा कोशिश करनी पड़ती है, और पचास रुपया से ज़्यादा वेतन पाने वाला हर व्यक्ति आगे बैठना अपना अधिकार

हमारी लड़ाई

.........और हमने तमाचा रसीद किया।

पृष्ठ १०८

समझता है। रेल में अगरचे लड़ाई का डर कम है, फिर भी लम्बे सफ़र में बिस्तर बिछाने पर कोई न कोई झड़प हो ही जाती हैं।

एक बार हम जो रेल में सवार हुए, तो देखा कि यहाँ से वहाँ तक तमाम सीटों पर इन्सानी लाशें कम्बलों के कफ़न में लिपटी हुई पड़ी हैं, और डिब्बा अच्छा-खासा गोरे-गरेबाँ बना हुआ है। हम 'फ़ातःख्वाँ' की सूरत में अदब के साथ एक कोने में खड़े हो गए और टिकट के दाम बेकार हो जाने पर अफ़सोस करने लगे। संयोगवश स्टेशन छोटा सा था, और गाड़ी थी सब से बड़ी—यानी पञ्जाब मेल, जिसमें हम-से छोटे दर्जे का हिन्दुस्तानी यात्रा करने का साहस भी नहीं कर सकता था, और इतना मौक़ा भी न था, कि दूसरी जगह तलाश की जाती।

हम बहुत ख़ामोशी के साथ एक साहब की पायँताने खड़े हो गए। उन्होंने हमारी मौजूदगी के ख़तरे को महसूस करके जो अँगड़ाई ली तो, सच जानिए, इनके पाँव फ़ुट-डेढ़ फ़ुट के क़रीब लम्बे हो गए, और हमें ज़रा पीछे हट कर खड़ा होना पड़ा, कोई आध घण्टे तक हम खड़े-खड़े अपने हिन्दोस्तानी भाइयों का यह अछूतपन देखते रहे। जब किसी तरफ़ से साँस की आवाज़ों के अलावा सहानुभूति की कोई आवाज़ न आई और हम जीवित होने के सभी चिह्नों के बावजूद किसी नेकनाम लॉर्ड की प्रस्तर-प्रतिमा बन कर रह गए, तो एक बार ज़रा झुक कर हमने एक आदमी के पावँ को छुआ, फिर झटका दे कर कहा—"उठिए, हमें भी बैठने दीजिए!"

वह शायद यह फ़ैसला करके सोए थे, कि सुबह से पहिले आँख भी न खोलेंगे। हमारे ऐसा करने पर वे टस-से-मस भी न हुए। हमने फिर पावँ के अँगूठे को ज़रा ज़ोर से दबा कर कहा—"भई, जगह दो! सुनते भी हो, सुबह हो गई!"

मालूम पड़ता था, इनके सारे शरीर की समस्त शक्ति पावँ के अँगूठे ही में एकत्र हो गई थी। जैसे ही हमने अपनी पूरी ताक़त से अँगूठा दबाया, वैसे ही वह 'मुल्ला दुप्याज़े, के शव की तरह उठ कर बैठ गए, परन्तु दो-चार बड़े-बड़े श्वास लेकर दाँत पीसते हुए फिर लेट गए। हमने दोबारा फिर वही क्रिया की; अब वह उठे और उठते ही खड़े हो कर और निस्सङ्कोच हो कर हम पर चपत का वार कर दिया! ख़ैर तो यह हुई, कि हमारा सर

अपने आप ही बड़ी तेज़ी से नीचे झुक गया और इन का चपत हमें हवा देता हुआ गुज़र गया !

हम बहुत सुलह-पसन्द आदमी हैं। गम्भीरता और शान्ति भी हमारे अन्दर कूट-कूट कर भरी पड़ी है; परन्तु हर चीज़ की सीमा होती है। हमारे दिल में भी इस समय जोश पैदा हो गया और हमने सोचा कि एक सप्ताह से जो अपने मित्र के अतिथि बन कर हमने अण्डे और मुर्गे खा रक्खे हैं, वह किस काम आएँगे ! धिक्कार है ऐसे जीवन पर कि पैसे भी खर्च करें और चपत भी खाएँ; फिर भी बैठने को जगह भी न मिले ! मान लिया, कि टिकट हमने अपने दामों से न लिया था, तो भी सर तो हमारा है। खुदा-न-ख्वास्ता उनका हमला कामयाब हो जाता, तो कौन कह सकता है कि हमारी क्या दशा होती ! इसी प्रकार की बातें सोच कर हमने इनके दोनों हाथ पकड़ कर पूछा—"क्या हरकत थी यह ?"

"हमें जगाया क्यों तुमने ?"

"जगह लेने को !"

"हमने ठेका लिया है, तुम्हारी जगह का ?"

"ज़रा तमीज़ से बोलो।"

"तमीज़ की ऐसी-तैसी ! तुमने हमें जगाया क्यों ? तुम्हारे बाप की जगह थी यह ? ये जो और चचा सो रहे हैं, इनको क्यों न जगाया ?"

हमारी खुश-क़िस्मती से इस समय तक मुख़ालिफ़ के दिल पर हमारा कुछ न कुछ डर क़ायम हो गया था, कि उसने झटका दे कर हाथ छुड़ाने की कोशिश न की, वरना मुमकिन था कि हमारी पकड़ ढीली हो जाती। उसने हाथों की तो परवाह न की और हमारे पेट में अपना सर अड़ा कर जो ढकेला, तो खिड़की से लगा दिया। इस समय हमें भारी खतरा दिखाई दिया। एक तो गाड़ी चल रही थी, अगर ज़रा वह ज़ोर करता और हमारा सर या गर्दन बाहर निकल जाती, तो खैरियत न थी; या वैसे ही एक रेला और दे देता, तो हड्डी-पसली टूट कर बराबर हो जाती। ऐसे खतरनाक मौक़े पर सुलह के बग़ैर और कोई चारा न था। इसलिए हमने अत्यन्त मित्रता-भाव से कहा—"अच्छा, आप सोइए। हम और कहीं बैठ जायँगे।"

"अब तो मैं तुम्हें डिब्बे से निकाल कर ही दम लूँगा।"

"इतने में स्टेशन आ गया और खिड़की खोल कर उसने ज़ालिमाना ढङ्ग में कहा—"उतरो, जल्दी उतरो, नहीं तो यहीं से ढकेल दूँगा !"

हम बहुत ख़ामोशी और इज्ज़त के साथ अपना बैग और बिस्तर लिए हुए उतर आए और बड़ी तलाश के बाद एक उम्दा सी जगह अपने लिए चुन ली। यह बहुत अच्छी जगह थी। हम ऊपर की सीट पर बिस्तर बिछा कर लेट गए, परन्तु अपनी हार का भारी दुःख था। बस, एक भारी सिल थी जो छाती पर धरी थी। इसी उलझन में नींद आ गई। दो-ढाई घण्टे के बाद आँख जो खुली, तो देखा कि सारा डिब्बा रेल के टिकट कलक्टरों से भरा हुआ है, और बीस साल से ले कर पचास साल तक के टिकट-बाबू मौजूद हैं। मालूम हुआ, कि किसी मेले के इन्तज़ाम में बुलाए गए थे और अब वापस जा रहे हैं। हम जहाँ उतरने वाले थे वह स्टेशन पास आ गया था। हम जल्दी-जल्दी बिस्तर बाँधने में मसरूफ़ हो गए, पहिले बिस्तर-बन्द उठाया और गद्दे को फैला कर उसमें रखने की कोशिश करने लगे। संयोग से गद्दे का एक कोना नीचे लटक गया। एक छोटे-से बाबू नीचे बैठे हुए आलू के साग के साथ पूरियाँ खाने में मशग़ूल थे। इत्तफ़ाक़ से गद्दे का एक कोना पूरियों से छू गया या पास से गुज़र गया। बस, फिर क्या था, बाबूजी बिगड़ गए और खड़े हो कर अपनी 'महकमाती' ज़बान में ख़फ़ा होने लगे—"अन्धा है; शाला लोग !"

हम अकेले ही थे, पर अन्धे न थे। चाहिए तो यह था, कि पहिली हार का विचार करके चुप हो जाते; परन्तु ऐसा करना हमारे स्वभाव के विरुद्ध था। हमने परिणाम सोचे बिना ही बाबू को डाँटते हुए कहा—"क्या बकता है, उल्लू के बच्चे !"

"किस माफ़िक बोलता है, लायन पर फैंक देगा !"

"चुप रहो, बदतमीज़"

इसी दौरान में हर क़ौम व मज़हब और हर उम्र के बाबू, जो उस समय वहाँ मौजूद थे, हमारी तरफ़ ध्यान से देखने लगे और हर तरफ़ से हम पर गालियों की बौछारें होने लगीं।

एक दुबले-पतले बीमार-से बाबू, जो दूर खिड़की के पास खड़े थे, अपनी बड़ी-बड़ी आँखें फाड़ कर हमें देख रहे थे, और ज़बान से पञ्जाब-

मेल के एञ्जिन की रफ़्तार से, फ़ी मिनट ५५ के हिसाब से गालियाँ बक रहे थे, और बार-बार हम तक पहुँचने की चेष्टा कर रहे थे। अच्छा हुआ, उनकी अपनी और हमारी ख़ुश-क़िस्मती से 'लायन-क्वीयर' न मिला, वरना ख़ुदा जाने वह हमें खा जाते या हमारे हाथ उनके रक्त में रँगे जाते!

कुछ सोच-विचार कर हम चुप हो गए, लेकिन वे बाबू लोग बकते ही रहे। मसल मशहूर है—'एक चुप सौ को हरावे'! हमारी ख़ामोशी ने बहुत जल्द उनकी ज़बानें बन्द कर दीं। आध घण्टे के बाद हमारा स्टेशन आ गया। सामान क़ुली को दे कर हम बदला लेने की तरकीब सोचते हुए उतर गए। पन्द्रह-बीस मिनट गाड़ी खड़ी रही। इधर इतने समय में हमारे दिमाग़ के अन्दर एक तरकीब आ चुकी थी, परन्तु इसकी कामयाबी हमारी चालाकी और कार्य-कुशलता पर निर्भर थी। हमें अपने आप पर विश्वास तो न होता था, पर दिल की लगी बुरी होती है, और मनुष्य मजबूर होने पर सब कुछ कर डालता है। हम कोट की जेबों में हाथ डाले हुए बराबर उस समय तक टहलते रहे, जब तक रेल ने सीटी न दी। सीटी की आवाज़ सुनते ही हम जल्दी-जल्दी क़दम रखते हुए अपने दुबले-पतले 'हरीफ़' के पास पहुँचे और बड़ी सज्जनता से कहा—"लड़ाई हो चुकी, अब लाओ चलते वक़्त हाथ तो मिलाते जायँ।"

वह बेचारा बहुत साफ़-दिल आदमी था और खड़ा भी था, खिड़की के क़रीब ही। जल्दी से मुस्कुराते हुए झुका और हाथ बढ़ा कर कहने लगा—"माफ़ कीजिए, मुझसे बड़ी गुस्ताख़ी हुई और मैं बहुत शर्मिन्दा हूँ!"

गाड़ी आहिस्ता-आहिस्ता चल रही थी, हम दौड़ कर पास हो गए और बायाँ हाथ जेब से निकाला। अभी हाथ मिलने न भी पाया था, कि हमने बड़ी तेज़ी और फ़ुर्ती के साथ दाहिने हाथ से उनके मुँह पर ज़ोर से एक तमाँचा रसीद किया! इधर चपत पड़ी, उधर उनका सर खिड़की से जा टकराया। अट्टहास की आवाज़ गूँज उठी। वाह-वा का शोर-सा हो उठा! पराजित प्रतिद्वन्दी ने भी 'वैल् डन्-वैल् डन् ' कहा और दूर तक रूमाल हिला कर हमें हमारे कारनामे की दाद देता रहा। इधर हम भी कामयाबी की ख़ुशी में अकड़ते हुए प्लेटफ़ॉर्म से निकल कर चल दिए!

चची एक-दो बार नहीं बीसों बार चचा छक्कन से कह चुकी हैं, कि बाहर तुम्हारा जो जी चाहे किया करो, मगर .खुदा के लिये घर के किसी काम में दख़ल न दिया करो। आप भी हलाकान होते हो, दूसरे को भी हलाकान करते हो! सारे घर में एक हड़बड़ी-सी मच जाती है, मेरा दम घुटने लगता है, और फिर तुम्हारे काम में मैंने नुक़सान के सिवा कभी फ़ायदा होते भी तो नहीं देखा। तो ऐसा हाथ बँटाना भला मेरे किस काम का ?

चचा इस बेक़द्री से खीज जाते हैं। चिढ़ कर कहते हैं—"भला साहब, कान हुए! फिर कभी आपके काम में दख़ल दूँ तो जो चोर की सज़ा वह हमारी सज़ा!" लेकिन उन्हें हर काम में टाँग अड़ाने का कुछ ऐसा रोग है, कि जहाँ कहीं मौक़ा मिला, कि फिर आप लँगोट कस कर तैयार!

आज ही दोपहर की सुनिए। चची का जी अच्छा न था। गला आ गया था, इसके कारण हल्की सी हरारत भी थी। आप मुँह लपेटे दालान में पड़ी थीं, कि धोबिन कपड़े लेने आ गई। चची ने कहा—"बरेठिन, आज तो मेरा जी अच्छा नहीं है। कल या परसों आ जाना, तो मैले कपड़े दे दूँगी।"

धोबिन बोली—"बीबी जी, बरेठा आज रात भट्टी चढ़ा रहा है, कपड़े मिल जाते, तो आठवें दिन मैं दे जाती। नहीं तो फिर वही दस-पन्द्रह दिन लग जाएँगे।"

चची ने कहा—"अब जो हो, मुझमें तो उठ कर कपड़े देने की हिम्मत नहीं।"

चचा छक्कन दालान में बैठे मियाँ-मिटठू को सबक़ पढ़ा रहे थे। कहीं

चची की बात सुन पाई। उन्हें ऐसे मौक़े अल्लाह दे! झट उधर आ पहुँचे। बोले—"क्या बात है? कपड़े देने हैं धोबिन को? हम दिए देते हैं।"

चची बोलीं—"ख़ुदा के लिए तुम रहने दो, हलाकान कर डालोगे सारे घर को। पहले ही मेरा जी अच्छा नहीं है। कल-परसों अल्लाह चाहेगा, तो मैं आप उठ कर दे दूँगी।"

चचा कब रुकने वाले हैं भला! ख़ुदा जाने उन्हें काम का जुनून है, या घर के कामों से तबीयत को ख़ास मुनासिबत है, या रोक दिए जाने में उन्हें अपने सलीक़े और सुघड़ाई का अपमान दिखाई पड़ता है। बोले—"वाह, भला कोई बात है। यह ऐसा काम ही क्या है, अभी निपटाए देते हैं।"

चची जानती हैं, कि वह अपने आगे किसी की नहीं सुनते। वे तो बड़बड़ाती हुई करवट ले पड़ रहीं, और चचा छक्कन चले धोबिन को कपड़े देने! चची टोक चुकी थीं, इसलिए आपने, न तो किसी नौकर को आवाज़ दी, न किसी बच्चे को बुलाया, न किसी से पूछा, कि किसके कपड़े कहाँ पड़े हैं, ख़ुद ही घर की तालाशी लेनी शुरू कर दी। जो कपड़ा नज़र आया ख़ुद ही आँखों के सामने तान कर परखा या नीचे फैला कर देख लिया—"कमबख़्त पता भी तो नहीं चलता, कि पहनने का कपड़ा है या झाड़न बन चुका है। चमारों के बच्चे भी तो इससे अच्छे कपड़े पहनते होंगे।" किसी कपड़े को छोड़ा, किसी को बग़ल में दबाया, कहीं झुक कर चारपाई के नीचे झाँका, कहीं एड़ियाँ उठा कर आलमारी के ऊपर नज़र डाली! मालूम होता था, कि आज चचा ने क़सम खा ली है, कि जो काम होगा आप ही करेंगे। लेकिन आख़िर कब तक? चचा छक्कन के लिए तो अल्लाह मियाँ बहाने पैदा कर देते हैं। कपड़ों की तलाश में असबाब की कोठरी में गये थे, कि पाँच मिनिट बाद अन्दर से आवाज़ें आनी शुरू हो गईं—"अरे आना-आना! ओ बुन्दु! ओ इमामी! अमाँ दुद्दू! अरे भई लल्लू! किधर गये सब? दौड़ कर आना, हाथ फँस गया। अमाँ हमारा हाथ और किसका होता? यहाँ कोठरी में नहीं निकलता, यह क्या करते हो? अक़्ल मारी गई है? हाथ कैसे खिंचेगा। अरे भाई, सन्दूक़ सरकाओ। लाहौल बिला! अमाँ ज़ोर लगाओ। एक सन्दूक़ नहीं सरकता सबसे! मिल कर, हाँ यूँ......! तौबा-तौबा, देखते हो

हाथ को ? सारा छिल कर रह गया है । देखे इन बदतमीज़ों के तरीक़े ? मैले कपड़े रखने की जगहें क्या-क्या अनोखी निकाली हैं । सन्दूक़ों के पीछे मैले कपड़े ठूँसा करते हैं ? अमहक़ कहीं के ! तुम्हीं कहो, यह जगहें कपड़े रखने की हैं । नामाक़ूलों को इतना ख़याल नहीं आता कि, आख़िर ये खूँटिया किस मर्ज़ की दवा हैं !"

लीजिए साहब, हमेशा की तरह सारा घर चचा मियाँ के गिर्द जमा हो गया और आपने सुनाने शुरू कर दिये अपने हुक्म :

"अब खड़े मेरा मुँह क्या तक रहे हो ? जमा करो मैले कपड़े । पर देखो, रह न जाय कोई एक-एक कोना देख लेना, दालान में ढेर लगा दो सबका । बुन्दू, तू हमारे कमरे में से मैले कपड़े समेट ला, दो-तीन जोड़े जो चारपाई के नीचे हिफ़ाज़त से लपेटे रक्खे हैं, वह भी लेते आना और सुनना वह छुट्टन या नब्बू का एक कुरता बाँस पर लिपटा हुआ कोने में रक्खा है, उससे परसों कमरे के जाले उतारे थे हमने । वह भी खोलते लाना और देख......हवा के घोड़े पर सवार है कमबख़्त, पूरी बात एक बार में नहीं सुन लेता ! एक बनियाइन हमारी अँगीठी में रक्खी है, बूट पोंछे थे उससे, वह भी लेते आना ! जा, भाग कर जा । इमामी, तू बच्चों के कपड़े जमा कर। हर कोने और हर ताक़ को देख लेना । ये बदमाश कपड़े रखने को नई से नई जगह निकालते हैं ।"

नौकर गए तो बच्चों की पारी आगई—"कहाँ गये ये सब के सब ? ओ छुट्टन ! अरे ओ छुट्टन !! लीजिये मुलाहज़ा फ़रमाइये आपकी सूरत ! अरे यह क्या हाल बनाया है, कोयलों में कहाँ जा घुसा था ? उतार अपने कपड़े, नए कपड़े मिलेंगे । पहिले मैले कपड़े यहाँ ला कर रख और यह बन्नो किधर गई ? मैं कहता हूँ, आख़िर यह मर्ज़ क्या हो गया है तुम लोगों को ? जहाँ काम की सूरत देखी खिसक जाने की ठहरा ली ! चलो अन्दर, एक काग़ज़ और पेन्सिल ला कर दो हमें । आख़िर लिखे भी जायँगे कपड़े या नहीं ? लल्लू, तुम बिस्तरों में से मैली चादरें और तकियों के ग़िलाफ़ निकाल लाओ ।"

ग़रज़, कि पाँच मिनट में घर की यह हालत हो गई, गोया आँख

मिचौनी खेली जा रही हो। कोई इधर भाग रहा है, कोई उधर! कोई चारपाई के नीचे से निकल रहा है, कोई कोने झाँकता फिर रहा है। किसी ने लिपटे हुए बिस्तर से कुश्ती शुरू कर रक्खी है, कोई कपड़े उतार तौलिया लपेटे भागा जा रहा है। साथ-साथ चचा के नारे भी सुनने में आ रहे हैं। "अरे आए ? अबे लाए ?" सबके हाथ-पैर फूल रहे हैं, सिट्टी गुम है, टक्करें लग रही हैं!

कोई आध घण्टे की मेहनत से सारे कपड़े दालान में जमा हुए। नौकर और बच्चे कपड़ों के ढेर के गिर्द दायरा बाँध कर खड़े हैं। सूरतें सबकी ऐसी हैं मानो स्वाँग भर रक्खा है। किसी के मुँह पर मिट्टी पड़ी है, किसी के बाल मटियाले हो रहे हैं,। किसी के कपड़ों पर जाले लगे हुये हैं। चचा चारपाई पर बैठे एक-एक कपड़े का मुआइना कर रहे हैं। हर कपड़े को ऊँगली के सिरों से उठाकर देखते हैं, कभी बच्चों को कोसते हैं, कि 'कमबख्तों को कपड़े पहिनने का सलीक़ा भी नहीं आता।' कभी धोबिन को डाँटते हैं, कि 'खबरदार जो एक दाग़ भी बाक़ी रहा।' कहीं बीच में वह बनियाइन भी हाथ में आ गई, जिससे अपने बूट पोंछे थे। ख़याल न रहा, कि यह अपनी ही करतूत है। बरस पड़े—'अब देखो तो इसकी हालत। यह आदमियों के काम की मालूम होती है ? अल्लाह जाने बदतहज़ीब कहाँ-कहाँ...... !'

दाग़ अच्छी तरह देखने से चचा को याद आ गया, कि यह बनियाइन उनके अपने कमरे की अँगीठी से निकली होगी। चुनाञ्चे फ़ौरन कपड़ों में मिलादी और बोले—"चलो अब जो है सो है। लो, अब कपड़ों को अलग-अलग कर दो, कि कौन-सा कपड़ा किसका है।"

दस हाथ कपड़े अलग-अलग करने में लग गए! हर एक को अपनी कारगुज़ारी दिखाने का ख़याल है। धोबिन चीख रही है—"ऐ मियाँ, जाने दो, ऐ भाई, रहने दो, मैं अभी आप अलग-अलग कर दूँगी।" मगर बच्चे कहाँ सुनते हैं। कोई कहता है—यह मेरी क़मीज़ है, कोई कहता है—तुम्हारी कहाँ से आई, यह तो मेरी है। कोई कोट के पीछे झगड़ रहा है, कोई वास्कट पर! कोई कुरते की एक आस्तीन खींच रहा है, कोई दूसरी! किसी के पायजामे के पोयँचों पर रस्सा-कशी हो रही है। कपड़े चरर-चरर करके फट रहे हैं। चचा सब के नामों की सूची बनाने में व्यस्त हैं। बीच में सिर उठा-उठा कर डाँटते

भी जा रहे हैं—'फाड़ दिया न? अब की बनाने को कहना कोई नया कपड़ा। जो टाट के कपड़े न बना कर दिए तो! चले जाओ सब यहाँ से, हम अकेले सब काम कर लेंगे!'

बच्चों और नौकरों का क़ाफ़िला गया और धोबिन के साथ मिल कर सूची बननी शुरू हुई। उसे हिदायतें दी गईं, कि 'देख, हम पूरी फ़ेहरिस्त बनाएँगे कपड़ों की। सबके कपड़े अलग-अलग लिखवाने होंगे और साथ ही बताना होगा, कि इतने कपड़े गरम हैं, इतने रेशमी, इतने सूती!'

धोबिन बोली—"यों ही तो हमेशा लिखे जाते हैं।"

चचा को अपनी इस क़ाबिले-क़द्र और शानदार तजवीज़ की दाद न मिली, तो आप धोबिन से चिढ़ गए। "पगली कहीं की, हर रोज़ तो घर में हुल्लड़ मचा रहता है, कि इसकी क़मीज़ बदल गई, उसका पायजामा नहीं मिलता; और कहती है कि यों ही लिखे जाते हैं कपड़े! यों किसी को लिखना आता, तो यह रोज़-रोज़ की झक-झक क्यों हुआ करती?"

धोबिन चुप हो रही। कपड़े गिनने शुरू कर दिए। पर अब पहले ही कपड़े पर नई बहस छिड़ गई। धोबिन कहती है, कि यह क़मीज़ छुट्टन मियाँ की है, पर चचा कहे जा रहे हैं, कि नहीं बन्नो की है। धोबिन बोली—"मैं क्या पहली बार कपड़े ले जा रही हूँ; इतनी भी पहचान नहीं मुझको?" चचा कहने लगे—"बेवक़ूफ़ कहीं की। कपड़े बाज़ार से लाते हैं हम, सिलवाते हैं हम, रोज़ बच्चों को पहिने हुए देखते हैं हम, और पहचान तुझे होगी?"

शहादत के लिए बुन्दू को बुलाया गया। चचा ने उससे पूछा—"यह क़मीज़ बन्नो ही की है ना?"

बुन्दू की क्या मजाल, कि चचा की बात झूठी बताए। डरता-डरता बोला—"मालूम तो कुछ उन्हीं की-सी होती है। पर वह आप ही ठीक-ठीक बताएँगी।"

बन्नो की तलबी हुई। वह आते ही बोली—"वाह! यह फटी-पुरानी क़मीज़ मेरी क्यों होती, छुट्टन ही की होगी।"

धोबिन को चचा के मिज़ाज की कैफ़ियत क्या मालूम? वह कह बैठी—"मैं तो कहती थी!" चचा के आग लग गई! बोले—"औलिया की

बच्ची है न यह, तो इन्हें क्यों न मालूम होगा! मुँहफट, बदतमीज़ कहीं कीं, दूसरा धोबी रख लूँगा मैं।"

पूरे एक घण्टे की मेहनत के बाद कहीं सूची बन कर तैयार हुई, कि कौन-सा कपड़ा किसका है, और किसके कितने कपड़े हैं। अब जनाब, इधर धोबिन से कहा गया, कि तू सबके कपड़े गिन, इधर अपनी सूची का टोटल मिलाना शुरू किया। धोबिन गिनती है, तो उनसठ होते हैं; चचा अपना टोटल मिलाते हैं, तो इकसठ कपड़े होते हैं। धोबिन बार-बार कहती है—"मियाँ ठीक तरह जोड़ो, उनसठ ही हैं।" पर चचा हैं, कि बिगड़े जा रहे हैं—"तेरा जोड़ना ठीक, और हमारा जोड़ना ग़लत हो गया? जाहिल कहीं की, उठ कर देख, नीचे दबाए बैठी होगी!"

धोबिन बेचारी हर तरफ़ देखती है, बार-बार कपड़े गिनती है, वही उनसठ निकलते हैं। चचा की आँखों के सामने भी एक बार गिन दिए और उनसठ ही निकले। आख़िर नए सिरे से सब कपड़ों का मुक़ाबिला किया गया। कोई घण्टा-भर की खोज के बाद मालूम हुआ, कि धाबिन ने बताए थे दो जोड़ी मोज़े और चचा ने लिखे थे चार! धोबिन उन्हें दो गिनती थी, और चचा चार अदद। इस पर फिर बेचारी धोबिन के लत्ते लिए गए—"जोड़ी के क्या माने? चार नहीं थे मोज़े? यों तू चार रूमालों को भी दो जोड़ी लिखा दे, तो यह हमारा क़ुसूर होगा? इतना वक़्त फ़ुज़ूल ख़राब कर दिया! सारी उम्र कपड़े धोते गुज़र गई और अभी तक कपड़े गिनने का सलीक़ा नहीं आया!"

बारह बजे धोबिन आई थी, चार बजे रुख़सत हुई। चचा छक्कन छुट्टी पाने के बाद सूची चची को देने आए। बोले—"निपटा दिया हमने धोबिन को!"

चची जली हुई थीं, बोलीं—"घर में क़यामत भी तो आ गई, कोई बच्चा नङ्ग-धड़ङ्ग फिर रहा है, कोई ग़ुसलख़ाने में कपड़ों के लिए ग़ुल मचा रहा है, धोबिन दुखिया अलग खिसियानी होकर गई है। आधा दिन ख़राब करके किस मज़े से कहते हैं, कि निपटा दिया हमने धोबिन को!"

चचा चिढ़ गए—"तुम्हें कभी फूटे मुँह से तारीफ़ के दो लफ़्ज़ कहने की तौफ़ीक़ न हुई!" चचा रूठ कर चारपाई पर पड़ रहे।

चची ने पूछा—"पायजामों में से इज़ारबन्द भी निकाल लिए थे ?"

चचा की आँखें कुछ खुलीं, मगर जवाब न दिया। बड़े मुनासिब वक्त पर रूठ गए थे।

इतने में सूची देख कर चची बोलीं—"और यह मेरी रेशमी क़मीज़ कौन सी ? हलके फ़ीरोज़ी रङ्ग की ? ऐ ग़ज़ब .खुदा का, मैंने तो वह इस्त्री करने को अलग रक्खी थी ! कमबख़्त दो कौड़ी को कर लायगी, और इसमें से मेरे सोने के बटन भी उतार लिए थे या नहीं ?"

अब तक तो चचा की त्योरी चढ़ी हुई थी। सोने के बटनों की सुनी, तो हड़बड़ा कर उठ बैठे। कहने लगे—"बटन ? सोने के ? तुम्हारे ? तुम्हें मेरी क़सम ! हैं, हैं, वह तो नहीं निकाले हमने !"

जूती पहिनते हुए चचा बाहर भागे—"अरे भई ! चली गई धोबिन ! ओ बुन्दू, चली गई धोबिन ! अरे इमामी, किधर गई धोबिन ? अरे दौड़ियो, अरे भई जाना, पकड़ना, लेकर आओ, मुँह क्या तकते हो; सोने के बटन ले गई अमाँ, सोने के बटन !! तुम्हारी चची के, उसका घर किधर है ? अमाँ खोञ्चे वाले किसी धोबिन को जाते देखा है ? अरे भई रेवड़ी वाले कोई धोबिन तो उधर नहीं गई ? ओ भाई गँडेरियों वाले, कोई धोबिन......दाएँ हाथ को ? उस तरफ़ को......... ?"

अभी तक चचा बटन ले कर वापस नहीं आए !

प्राइवेट डिटेक्टिव

पता नहीं, यह चन्द्रकान्ता सन्तति और भूतनाथ पढ़ने का नतीजा था, क्या एडगर वालेस* के उपन्यासों का असर, या यह सोच कर, कि हमारे भारतवर्ष में नवयुवकों का नए व्यवसाय की ओर क़दम बढ़ाने की हिम्मत नहीं होती, हमने इस नए व्यवसाय के उद्धार करने का बीड़ा उठाया था—जो कुछ भी हो, हमने इस ओर क़दम बढ़ा ही दिया। याने एम० ए० पास करने के चार साल की मटर-गश्ती के बाद, पिता जी के विरोध करने पर भी, मित्रों के उपहास का साधन बन जाने पर भी तथा 'खब्ती' का ख़िताब पा जाने पर भी, हमने अपने मकान के आगे साइन-बोर्ड लटका ही तो लिया—'रमेश चन्द्र, एम० ए०, प्राइवेट डिटेक्टिव।'

किन्तु लोगों ने हमारी प्रतिभा का क़तई आदर नहीं किया। कोई आदमज़ाद चिक के बाहर से भी नहीं झाँका। हाँ, मगर आते थे यार लोग, दिन भर ब्रिज जमता था या फ़्लास! अपने राम के लिए पान-सिगरेट तथा सिनेमा के पैसे निकल ही आते थे।

हाँ तो आप समझ सकते हैं कितना आश्चर्य हुआ होगा हमको। उस दिन, जब कि एक अधेड़ सज्जन हमारे 'ऑफ़िस' में तशरीफ़ लाए जो लिबास से पैसे वाले मालूम पड़ते थे।

"आप ही मिस्टर रमेश चन्द्र हैं?"

"जी हाँ।"

"आपसे कुछ राय लेनी है।"

"ज़रूर, तशरीफ़ रखिए। अरे रामू, पान ले आना।" ख़ातिर-तवाज़ह इसलिए, कि वह हमारा पहला 'शिकार' था।

---

*अंग्रेज़ी का एक प्रसिद्ध जासूसी लेखक

ख़ुशी, कुछ न पूछिए! ख़ुशी तो हमें इतनी हुई, जितनी कि शायद मजनूँ को लैला से निकाह करते समय हुई होती।

उन्होंने हमें सिर से पैर तक ग़ौर से देखा, फिर पूछा—"आप मज़बूत हैं?"

बाँछें खिल गईं! सोचा, कि कोई सङ्गीन मामला हाथ आया है। जैसी ख़ुशी, कि किसी वेश्या को पहले-पहल किसी धनी गाहक के फँसने पर और वकील को ख़ून का केस हाथ आने पर होती है, कुछ-कुछ वैसी ही ख़ुशी हमें भी महसूस हो रही थी।

हमने सोचा, कि हाथ कङ्गन को आरसी क्या? हमने अपना कोट उतारा, फिर क़मीज़ खोलने लगे!

वे अचकचा कर बोले—"यह आप क्या कर रहे हैं?"

"अपनी मज़बूती दिखा रहा हूँ।"

"नहीं, नहीं, इसकी ज़रूरत नहीं। आप मज़बूत मालूम पड़ते हैं; लेकिन आपमें हिम्मत काफ़ी है?"

हमने कहा—"चलिए बाहर।"

"क्यों?"

"हिम्मत का नमूना देखने! जिस रास्ते-चलते आदमी को कहिए धौल जमा दूँ।"

"अच्छा तो, आप में अक़्ल भी भरी-पूरी होगी?"

"आज़माइश कर लीजिए!" बस, यह उत्तर तो जैसे 'इक्कों का ट्रेल' साबित हुआ!

"अच्छा तो, आपको मेरी पत्नी का कुत्ता ढूँढ़ निकालना होगा। कल से लापता है। अभी तक नहीं मिला।"

बस साहब, जैसे जाड़े में एक लोटा पानी सिर पर पड़ जाए! ख़ुशी हवा हो गई!!

"वाह जनाब!" हमने कहा—"हम तो समझे थे, कि आप कोई सङ्गीन मामला लाए होंगे। कुत्ते का खो जाना ऐसी कौन-सी बड़ी बात है, पुलिस में रिपोर्ट करिए।"

"सङ्गीन !" वे बोले—"मेरे लिए तो बहुत सङ्गीन है। आप मेरी पत्नी को नहीं जानते। रात-दिन एक कर दिया है उसने। अगर कुत्ता नहीं मिला, तो मेरा घर पर रहना मुहाल हो जायगा ! मैं आपको पूरी-पूरी फ़ीस दूँगा।" फ़ीस का नाम सुन कर मुझे कुछ सान्त्वना ज़रूर मिली।

"कुत्ते का हुलिया बताइए ?"

"पिकनीज़ ज़ात का कुत्ता है। गहरा भूरा रङ्ग है उसका। 'जिमी' के नाम से आता है। कल मेरी पत्नी जब घूम कर लौटीं, तो देखा, कि जिमी उनके साथ न था। बहुत पता लगाया, लेकिन बेकार। जैसे ही आपको कुछ पता लगे, फ़ौरन ही मुझे इत्तला करिएगा। अगर एक-दो दिन ही में ढूँढ़ निकालिएगा, तो मैं आपको भारी इनाम दूँगा।" वह कह कर वे विदा हुए।

शाम के वक़्त हम कुत्ते की तलाश में निकले। वही सड़क पकड़ी, जिस पर, कि माथुर साहब रहते थे। क़िस्मत की ख़ूबी ! अभी थोड़ी ही दूर चले होंगे, कि हमें एक भूरा कुत्ता दिखाई दिया था। था भी पिकनीज़ ही ! अब हमारे सामने दो समस्याएँ थीं—एक तो यह, कि वह जिमी ही था, या नहीं; दूसरे यह, कि वह अगर जिमी ही था, तो किसके साथ था ?

हमने पढ़ा था, कि सफल जासूसी का एक सिद्धान्त यह है, कि जिनसे या जिनके बारे में आप जाँच-पड़ताल कर रहे हों, उन्हें यह न मालूम हो, कि आप कौन हैं और आपका क्या मक़सद है।

नज़दीक पहुँचे। देखा कि कुत्ते के साथ एक औरत थी, या यों कहा जाय, कि औरत के लिबास में एक भीमकाय 'वस्तु' लिपटी हुई थी। उसकी मुखाकृति और डील-डौल से ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो तीन ताड़काएँ एक साथ जोड़ दी गई हों। हमारी हिम्मत फ़ना हो गई। एक तो यह, कि उससे अटकने के लिए साहस की ज़रूरत थी, दूसरे यह, कि वह औरत थी। तीसरे यह कि अमीर मालूम होती थी। एकाएक जा कर यह तो पूछ न सकते थे, कि यह, कुत्ता आपके पास कहाँ से आया ?

दो-तीन चक्कर लगाए। हिम्मत बटोरी। पास जा कर सीटी बजाई और धीरे से पुकारा—"जिमी ! जिमी !" कलेजा उछल पड़ा ! कुत्ता चौंका, घूमा और दुम हिलाने लगा। हमें पक्का शुबहा हो गया, कि यह जिमी ही है।

जिमी का नाम पुकारते सुन उस औरत ने इस भालेनुमा निगाह से हमारी तरफ़ देखा, कि कलेजा दहल उठा। लेकिन, ओखली में सिर डालना ही था। नज़दीक जा कर निहायत अदब से झुकते हुए, मुस्कुरा कर हमने कहा—"कितना प्यारा कुत्ता है! यह आप ही का कुत्ता है?"

अब तो उसकी आँखें आग ही उगल रही थीं! हम तो चौकन्ने हो गए, कि कहीं दोहत्थड़ न जमा बैठे। किन्तु, उसने पुकारा—"बलदेव, बलदेव, जिमी को सम्हालो!" फिर इस तरह टेढ़ी गर्दन करके देखा, मानो यह कहना चाहती हो, कि अब क्या कर लोगे!

हमने बलदेव की तरफ़ देखा, कि सण्ड-मुसण्ड होने के अलावा वह लट्ठ भी लिए हुए था।

दो बातें हमारी समझ में आईं—पहली यह, कि वह कुत्ता जिमी ही था। दूसरी यह, कि स्वेज़ का रास्ता क़तई बन्द हो गया था। न सिर्फ़ पूछ-ताछ ही की कुछ गुञ्जाइश बाक़ी थी, बल्कि ऐसा करना खतरे से खाली न था।

फिर क्या किया जाए? पहला केस! पूरी फ़ीस! अगर यहीं नाकामयाब रहे, तो भविष्य में सङ्गीन मामले क्या ख़ाक सुलझा पायँगे?

हमें यही सूझी, कि कुत्ते को उठा रफ़ूचक्कर हो जाओ। साहब को यह कुत्ता पहुँचा-भर दिया जाय, कि आसानी से रुपए सीधे! दौड़ तो हम तेज़ ही लेते थे।

हनुमान जी का नाम ले फ़ौरन ही हम तीर की तरह झपटे और कुत्ते को उठा कर भागे। वह औरत चोर! चोर!! चिल्ला पड़ी। शोर मच गया। हमारे पीछे एक मजमा था और हम जा रहे थे सरपट!

लेकिन केले का छिलका!—क़हर पड़े उस पर, जिसने कि केला खा कर छिलका वहीं डाल दिया था! अगर हम कभी म्यूनिसिपैलिटी में चुन लिए गए, तो क़ानून बनवा देंगे, कि आइन्दा से कोई किसी क़िस्म का छिलका सड़क पर न डाले।

लेकिन उस जगह तो केले का छिलका पड़ा ही था, हमारा पैर भी उस पर पड़ा और हमने क़लाबाज़ी भी खाई। अभी हम सँभल भी न पाए थे कि भीड़ सिर पर थी!

यह तो .खैरियत हुई, कि फिसले भी कहाँ ? चौराहे के पास ! नहीं तो बड़ी दुगर्ति बनती। चौराहे पर कॉन्सटेबिल खड़ा हुआ था। थोड़ी-सी थुक्का-फ़ज़ीहत के बाद हम उसे सौंप दिए गए। उसने कहा—"चलो थाने"।

हमने भी सोचा, कि कहीं और फ़ज़ीहत में कोई जान-पहिचान वाला न आ निकले कि बिलकुल ही किरकिरी हो जाये, चले थाने। हमारे पीछे उतनी ही भीड़ थी, जितनी कि किसी सत्याग्रही को विदा करने के समय हो जाया करती है।

दरोग़ा साहब ने कहा—"बन्द कर दो हवालात में। थोड़ी देर बाद इनका बयान लिया जायगा।"

हम उस वक़् की दिमाग़ी हालत न बयान करें, तो ही अच्छा। दो-एक पन्ने तो गालियों ही से भर जाएँ। फिर उनका दुहराना शराफ़त भी न होगी।

ख़ैर, हम बुलाये गए। दरोग़ा साहब शहाना अकड़ दिखाते हुए गरजे—"तुमने कुत्ता क्यों चुराया था ?"

हमने कहा—"देखिए, दरोग़ा साहब, यह सूट देख रहे हैं आप ? यह देखिये मोहर। लण्डन हाउस का बना हुआ सूट है। इसने मेरे पिछत्तर रुपए खाए हैं। ऐसा सूट पहन कर मैं और भी कुछ नहीं, चुराऊँगा कुत्ते ?

दरोग़ा साहब बमके—"इतने दिनों मैंने ख़ाक नहीं छानी। बड़े-बड़े शरीफ़ गुण्डों और बदमाशों को मैंने ठीक कर दिया है।"

"साहब ! मैं एम० ए० पास हूँ; एम० ए० ! मिल्टन, टेनिसन, शेली, जिसकी कहिए कविता सुना दूँ आपको।"

दरोग़ा साहब फिर उबल पड़े। "ज़बान बन्द करो। तुम कुत्ता उठा कर भागे थे। तुम मुजरिम हो। शकल-सूरत से भले घर के मालूम होते हो, वरना हमारे जूतों के......अच्छा, अपना हवाला दो।"

"लिखिए, रमेशचन्द्र, एम० ए०, प्राइवेट डिटेक्टिव।"

"प्राइवेट डिटेक्टिव ! तुम सीधी तरह बात न करोगे ?"

"पूरी बात तो सुनिए। वाक़ई मेरा पेशा यही है। कुत्ता मैंने नहीं

चुराया। उस औरत ने चुराया है।" फिर हमने पूरा क़िस्सा सुनाया और कहा, कि "अगर आपको यक़ीन न हो, तो आप माथुर साहब को फ़ोन करके पूछ लीजिए।"

यह बात उनकी समझ में आ गई। फ़ोन किया और मुझसे बोले—"तुम ठीक कहते थे। लेकिन कुत्ता उन्हें मिल गया। असल में वह औरत माथुर साहब की बीबी ही है।"

हम स्तम्भित रह गए! हमारे मुँह से निकल पड़ा—"हाय रे कम्बख़्त!

दरोग़ा साहब की त्योरी बदली—"क्यों, गाली देता है? जमादार, लगाओ तो!"

"दरोग़ा साहब, रुकिए।" हमने कहा—"मैं आपको गाली नहीं दे रहा था। अपने-आपको कोस रहा था। कहाँ गई थी मेरी अक़्ल? मैंने माथुर साहब से कुत्ते का हुलिया तो पूछा, लेकिन उनकी बीबी का हुलिया क्यों नहीं पूछा?"

थाने से हम छूट गए, लेकिन घर पहुँचते ही हमने पहला काम जो किया वह यह था, कि साइन-बोर्ड उतार कर नौकर के हवाले किया, ईंधन के काम में लाने के लिए!

अब हम सेक्रेटरिएट में पचास रुपए महीने पर नौकर हैं!

इतने दिनों के बाद मैंने आज सुबह मोटर-साइकिल को हाथ लगाया। उसे चलाते समय मैं जैसे चौंक-सा पड़ा। चौंकता क्या, बिलकुल ठिठक कर रह गया, और मेरी निगाहें बराबर की खिड़कियों की ओर मुड़ गईं।

आज से कई वर्ष पहिले की एक घटना मुझे याद आ गई। बिलकुल ऐसी ही रङ्गीन सुबह थी, गुलाब की क्यारियाँ बिलकुल लाल हो रही थीं, ओस की चमकीली बूँदों से चारों ओर मोतियों की वर्षा हो चुकी थी। आपा के रङ्ग-बिरङ्गे पन्छी सुरीली सीटियाँ बजा रहे थे। वायु के मन्द-मन्द झोंके भाँति-भाँति की सुगन्ध फैला रहे थे। जब मैंने और एक सुनहरे बालों और नीली आँखों वाली नन्हीं-मुन्नी गुड़िया ने मिलकर डॉक्टर साहब की मोटर-साइकिल स्टार्ट कर दी थी।

उस दिन हमें मौक़ा मिल गया। अख़्तर ने पूरे महीने-भर से मेरी नाक में दम कर रक्खा था। सुबह-शाम, उठते-बैठते, बस एक शब्द रह गया था, जिसको वह दोहराया करती थी—तुम डरपोक हो, तुम डरते हो, तुम ऐसे हो, तुम वैसे हो।

कई बार उससे कहा, कि भई मैं बिलकुल नहीं डरता, आख़िर साइ-किल तो चला ही लेता हूँ, लेकिन मोटर-साइकिल किस तरह चलाऊँ? चलाना तो एक तरफ़ रहा, मैं तो उसे हिला भी नहीं सकता। न यह पता, कि चलाने के लिए कौन-सी कल घुमानी पड़ती है और अगर चल पड़े, तो रोकते किस तरह हैं?

वह मुँह चिढ़ा कर कहती—"डॉक्टर साहब रोज़ तो चलाते हैं, चलाना सीख क्यों नहीं लेते?"

मैं कहता—"कोई सबक़ हो, तो याद भी कर लूँ। वे तो हैण्डिल पकड़ कर एक दुलत्ती-सी मारते हैं, और फट-फट की आवाज़ आने लगती है, फिर वे न जाने क्या खींचा-तानी-सी करते हैं, कि देखते-देखते साइकिल हवा हो जाती है।"

तब वह कहती—"तुम यह सब क्यों नहीं कर सकते ? बस, डरते हो न ?"

मैं मिन्नत से कहता—"अभी मोटर-साइकिल के बराबर तो हम ख़ुद हैं, बड़े हो गए, तो साइकिल छोड़, पूरी मोटर चलाया करेंगे। भला कभी हमारे जितने बच्चों को मोटर-साइकिल पर चढ़ते कहीं देखा भी है ?"

इसके उत्तर में एक तस्वीर दिखाई जाती, जिसमें एक लड़का एक मोटर-साइकिल को चला रहा है, और एक लड़की पीछे बैठी है। मैं बहुत कहता, कि यह तस्वीर झूठी है, यों ही किसी ने पेंसिल से खींच दी है, लेकिन जवाब वही मिलता, कि बस, डरपोक हो।

अख़्तर के कहने पर मैं पहिले ही भाँति-भाँति की मूर्खताएँ कर चुका था। हम दोनों ने सलाह करके पिता जी की सुनहरी घड़ी क्यारी में बो दी थी, अख़्तर का ख़याल था, कि पौदे में पहिले तो नन्हीं मुन्नी घड़ियाँ लगेंगी, फिर टाइमपीसें लगेंगी, और जब पौदा बड़ा हो कर पूरा पेड़ बन जायगा, तब बड़े-बड़े क्लॉक लगने लगेंगे !

लेकिन एक महीने पूरी देख-भाल करने और नियमित रूप से पानी देने पर भी कुछ न हुआ।

फिर उसके विवश करने पर मैंने वीरता दिखाने के लिए पिता जी की बन्दूक़ चला दी थी। जब बन्दूक़ चली, तो मैं कहीं गिरा, और बन्दूक़ कहीं। परिणाम यह हुआ, कि मेरी गुलेल तक छीन ली गई। अख़्तर कहती थी, कि जो चीज़ जानवर को जा कर लगती है, वह पूरी बन्दूक़ ही होती है। यह गोली-वोली यूँ ही बनावटी बातें हैं। उस दिन बन्दूक़ चलाने पर कुछ भी साबित न हो सका। यह अवश्य हुआ, कि बन्दूक़ चलाने पर गोली तो भगवान् जाने कहाँ गई, हाँ, छत पर डब्बू मियाँ (जो सम्भवतः बिल्ली से लड़ कर ऊपर धूप खा रहे थे) तड़प कर उछले और साथ रक्खे हुए पानी के टब में गिरे, वहाँ से जो तड़पे, तो रौशनदान में से होते हुए गिरे, सीधे उस

कमरे में, जहाँ आपा के पास होने के उपलक्ष में पार्टी हो रही थी। न जाने उनकी सहेलियों पर क्या बीती? आपा जान इतनी बिगड़ीं, कि बस! उनके रङ्ग-बिरङ्गे सीटियाँ बजाने वाले पक्षी सहम कर रह गए, और वह कमबख्त तोता तो यूँ दबक गया, जैसे मर ही गया हो।

फिर लगातार एक सप्ताह तक हमने एक पुस्तक में असंख्य परियों की कहानियाँ पढ़ीं और अख्तर के कहने पर सारी रात हमने छुई-मुई और नरगिस की कलियों पर पहरा देने में बिता दी। हम वहाँ परियाँ पकड़ने गए थे। अख्तर के हाथ में परियों के पकड़ने के लिए एक छोटा-सा जाल था, जिससे हम तितिलियाँ पकड़ा करते थे। हम दबे पाँव पहरा देते रहे। जब चाँद उदय हुआ, तो हम और भी सावधान हो गए। उस रात मुझे बड़ा डर लगा, ठण्ढी हवा के झोंकों से मुझे झपकियाँ आ रही थीं जब हमें मुर्ग़ की आवाज़ सुनाई दी, तो अपने कमरों में जा दबके। सुबह-सुबह हमें खाँसी भी हो गई और ज़ुकाम भी।

एक दिन तीसरे पहर हम बाग़ में खेल रहे थे। एक पेड़ के नीचे मुन्शी जी नमाज़ पढ़ रहे थे। अख्तर मुन्शी जी से कुछ चिढ़ती थी। वह बोली जब—"कोई आदमी नमाज़ पढ़ रहा हो, तो उनका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।"

"क्या मतलब हुआ तुम्हारा? यह बात मेरी समझ में नहीं आई।"—मैंने कहा।

वह बोली—"अब यह जो मुन्शी जी नमाज़ पढ़ रहे हैं न, अगर तुम इनका कान काटना चाहो, तो हरगिज़ नहीं काट सकते।"

मैंने कहा—"काट सकता हूँ।"

वह बोली—"नहीं!"

मैंने फिर ज़ोर दिया, कि मैं काट सकता हूँ। इसके बाद निश्चय हुआ; कि जब मन्शी जी इस बार नीयत बाँधें, तो मैं उनका कान काट लूँ। शर्त भी लगी। अख्तर दौड़ कर चाचा की शिकारी छुरी ले आई। मैंने छुरी हाथ में ज़ोर से पकड़ी और ताक में बैठ गया। मुन्शी जी सिजदे में थे, अब जो वह बैठे हैं, तो लपक कर मैंने उनका कान मज़बूती से पकड़ा और अन्धाधुन्ध छुरी चला दी! उधर कान है, कि कटता ही नहीं; मैं हूँ, कि ज़ोर

लगा रहा हूँ, पर क्या मजाल जो मुन्शी जी ज़रा भी हिले हों। वह बराबर नमाज़ पढ़ते रहे। अख्तर के ठहाकों पर दो-चार नौकर चले आए। मैं जो देखता हूँ, तो छुरी उलटी पकड़ रक्खी है! नौकरों को देख कर हम वहाँ से भागे। कितने दिनों तक मैं यही सोच-सोच कर डरता रहा, कि अगर छुरी की धार मैं मुन्शी जी के कान पर फेर देता, तो सचमुच उनका कान मेरे हाथ में आ जाता, और फिर .खून भी निकलता।

फिर एक दिन हम आपा के साथ सिनेमा गए, जहाँ हमने मुक्केबाज़ी की एक फ़िल्म देखी। अख्तर को मुक्काबाज़ी बहुत पसन्द आई। घर आकर कहने लगी—"आओ लड़ें।" मुझे उन दिनों ज्वर आता था। वह सारी गर्मी पहाड़ पर बिता कर आई थी और ऐसी लाल हो रही थी, कि बस!

पहिले तो मैंने टाल मटोल की, कि भला एक लड़की से क्या लड़ूँगा। वह कहने लगी—"तुम डरते हो।" खैर, मुक्काबाज़ी हुई। उसने अपने लम्बे-लम्बे नाखूनों से मेरे गाल नोच लिये, और जब मैंने उसे परे धकेल दिया, तो उसने दौड़ कर मेरी कलाई में इस बुरी तरह काटा, कि अब तक निशान मौजूद है। फिर जो रोई है, तो मुझे चुप कराना मुश्किल हो गया। मैंने अपना 'मैकनिव' का सेट ला दिया, तितिलियों के सारे पर, चॉक्लेट से निकली हुई तस्वीरें, गोलियाँ—जोकुछ मेरे पास था, सब-कुछ उसे दिया, तब कहीं जाकर वह चुप हुई!!

मैं कुछ ऐसा डरता भी नहीं था। एक तो मुझे अख्तर के रोज-रोज की भूतों की कहानियों ने मार रक्खा था। सुबह से शाम तक मुझे तरह-तरह की झूठी-सच्ची कहानियाँ सुनाया करती, और मैं विश्वास कर लेता।

एक बार कोई रात के ग्यारह बजे होंगे। सब के सब सिकेण्ड-शो में गए हुए थे। हम दोनों को उस्तानी जी पढ़ा कर गई थीं, कमरों में डर लगता था। हम बरामदे में बैठे थे, बाहर बड़े ज़ोर की वर्षा हो रही थी बिजली चमक रही थी और बादल गरज रहे थे।

अख्तर ने एक कहानी शुरु की। बोली—"एक अँधेरी रात में एक बहुत ही डरावने और उजाड़ जङ्गल में एक ट्रेन जा रही थी, बुरी तरह वर्षा हो रही थी, एक लम्बे से, खतरनाक-से डिब्बे में, सिर्फ़ दो आदमी बैठे थे।"

मुझे डर लगने लगा। यह अख़्तर कभी ख़्वाहमख़्वाह ऐसी बातें करती है। भला रेल का डिब्बा ख़तरनाक कैसे हो गया। मैं सोचने लगा—अब यही होगा कि, शायद एक आदमी दूसरे की मरम्मत करेगा, या चलती रेल से बाहर फेंक देगा। मैंने अपनी कुर्सी उसके पास खींच ली।

वह बड़े इतमीनान से कहानी सुना रही थी; "दोनों आदमी चुप-चाप बैठे थे। बिजली ज़ोर से कड़की। एक आदमी दूसरे से बोला—'क्यों साहब आप भूत-प्रेत को मानते हैं' ?"

"दूसरा बोला—'जी नहीं, मैं तो नहीं मानता, और आप ?'

"पहिला बोला—'साहब, मैं तो मानता, हूँ।' यह कह कर वह बैठे-बैठे धुआँ बन कर उड़ गया।"

"धुआँ बन कर उड़ गया ! कहाँ उड़ गया ?" मैंने प्रायः चीख़ते हुए कहा।

"हाँ भई ग़ायब हो गया, दरअस्ल वह ख़ुद भूत था और आदमी का भेस बदले हुए बैठा था।"

"फिर क्या हुआ ?"

"फिर क्या होना था, वह जो बेचारा डिब्बे में रह गया था, उसका जो हाल हुआ होगा, उसका हम क्या अन्दाजा लगा सकते हैं ?"

मैंने अपनी कुर्सी और पास खींच ली।

वह डरावना मुँह बना कर बोली—"और जो मैं यहाँ बैठे-बैठे ग़ायब हो जाऊँ, बस धुआँ बन कर उड़ जाऊँ, तब ?"

मैंने लपक कर उसे पकड़ लिया, इतनी ज़ोर से पकड़ा, कि जैसे वह सच-मुच उड़ जायगी।

वह कहने लगी—"और जो मैं इन्सान न होऊँ तो ? कुछ और होऊँ तो ?"

और मैं कितना डरा था, उस रात को ! ऐसी सर्द रात में मुझे इतना पसीना आया, कि कपड़े भीग गए। बहुत दिनों तक मैं यही सोचा करता, कि अख़्तर अगर सच-मुच चुड़ैल हो, तो क्या हो ?

एक रात अम्मा बोलीं—"नन्हें, ज़रा अन्दर से टॉर्च तो उठा लाओ, माली कहीं बाहर जायगा।"

मैं बड़ा बहादुर बन कर अँधेरे कमरे से टॉर्च उठा लाया।

अख्तर बोली—"बड़े बहादुर बनते हो, वह कहानी भी सुनी है तुमने ? अँधेरे और माचिस वाली ?

मैं सिहर उठा—"कौन-सी कहानी ?

"वही, कि एक आदमी अँधेरे कमरे में माचिस लेने गया, अन्दर बहुत अँधेरा था, हाथ को हाथ सुझाई न देता था। वह बेचारा टटोल-टटोल कर बढ़ रहा था, कि एक दम किसी चीज़ ने उसके हाथ माचिस दे दी।"

"माचिस दे दी ? किसने ?"

"न जाने कौन था ! वह चिल्ला कर बाहर भागा, लोगों ने बहुत तलाश किया लेकिन अन्दर कोई न था। सो भई, अँधेरे कमरे में जाते हुये ज़रा होशियार रहना चाहिए।"

इसके बाद बहुत दिनों तक मैं किसी अँधेरे कमरे में नहीं घुसा।

तो अन्त में उसके बार-बार कहने पर तङ्ग आ कर मैंने निश्चय कर लिया, कि अवश्य एक दिन मोटर साइकिल चलाएँगे। अख्तर को विश्वास था, सारा डर तब तक है, जब तक मोटर-साइकिल चलती नहीं। एक बार चल पड़े, तो बस ऐसा लगेगा, मानों मामूली साइकिल चला रहे हो।

जब कभी डॉक्टर साहब मोटर-साइकिल चलाते, तो हम बड़े ध्यान से उनको देखते, शुरू-शुरू की बाते तो समझ में आ जातीं, लेकिन बाद में वे तीन-चार बातें इकट्ठी कर जाते, उनका कुछ पता न चलता।

अख्तर बोली—"तुम पूछ क्यों नहीं लते डॉक्टर साहब से।"

मैंने कहा—"बताएँगे नहीं और ताज्जुब नहीं जो बिगड़ जाँय। और ऐसी कड़वी-कड़ुवी दवायें दें, कि पता ही चल जाय।"

वह बोली—"तुम डरपोक हो।"

मैं झल्ला उठा। मैंने छाती फुला कर कहा—"आज डॉक्टर साहब से ज़रूर पूछूँगा।"

डॉक्टर साहब अन्दर से निकले। मैं बरामदे में खड़ा था। उनके साथ बाहर तक गया। उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा। मैंने सलाम किया। उन्होंने जो मुझे विचित्र ढङ्ग से देखा है, तो बस मैं घबरा गया। अख्तर मुझे खिड़की

के परदों में-से घूर कर देख रही थी। डॉक्टर साहब बोले—"सुनाओ बच्चे कैसे हो?"

"जी, बहुत अच्छा हूँ...एक बात पूछने आया था... जी! बात यह है, कि... वह...अगर आप इजाजत दें, तो हम बाग़ में जा कर गालियाँ और मूजरें—खा लिया करें।"

"कैसे-कैसे ग़लत शब्द बोल रहे हो, बेटे! तुम अवश्य ही बहुत ग़लत जुमला लिखते होगे, मैं उस्तानीं साहेबा से अवश्य कहूँगा—"गालियाँ और मूजरों से तुम्हारा क्या मतलब है?"

"जी...मैं कह रहा था...मूलियाँ और गाजरें।...ग़लती से...वह... देखिए न!"

ओफ़्फ़ोह! हा-हा-हा...ही-ही-ही...ख़ूब! हाँ गाजरें फ़ायदा करती हैं, अगर थोड़ी मात्रा में खाई जाएँ तब...!"

मैंने बड़ी मुसमुसी सूरत बना कर अख़्तर की ओर देखा। उसने मुझे मुँह चिढ़ा दिया। मैं एक-दम एक बहादुर लड़का बन गया।

डॉक्टर साहब!...एक बात है...आप नाराज़ तो न होंगे...कह दूँ?"

"कह दो, प्यारे बच्चे! आज ज़रूर तुम्हारे पेट में दर्द होगा, क्यों?"

मैं फिर घबरा गया।

"डॉक्टर साहब, यह आपकी टाई बहुत सुन्दर है, बिलकुल इसी रङ्ग की एक तितली हमने पकड़ी थी।"

डॉक्टर साहब शरमा गए!

अख़्तर ने फिर मुझे मुँह चिढ़ाया। मैं जल्दी से आगे बढ़ा। डॉक्टर साहब ने फिर मुझे देखा, और मैं फिर बौखला गया। मैंने कहा—"डॉक्टर साहब, आप बहुत अच्छे हैं, मैं आपका कहा अब ज़रूर माना करूँगा। आप जिस समय चाहें मेरी ज़बान देख सकते हैं। अगर आप अब कहें, तो मैं ज़बान दिखा दूँ, यह देख लीजिए...!"

उधर कहाँ तो वे जाने की तैयारी कर रहे थे, कहाँ चौंक पड़े--"नन्हें तुम ज़रूर जामुनें खा कर आए हो, तुम्हारी ज़बान रँगी हुई है—और देखो..."

मैं वहाँ से सरपट भागा। अ.ख्तर ने पकड़ लिया। मुँह बना कर बोली—"आपकी टाई बहुत अच्छी है जनाब, आपकी मूँछें बहुत बढ़िया हैं जनाब ! आप बहुत अच्छे हैं जनाब ! और यह गालियाँ-मूजरें क्या चीज़ हैं, डरपोक कहीं के ! दो लफ़्ज़ मुँह से न निकले, कि यह आपकी मोटर-साइकिल कैसे चलती है, जनाब...?"

मैंने कहा—"किसी और से पूछ लेंगे ! बिजली का मिस्त्री है, शोफ़र है, उस्तानी जी हैं—कोई न कोई तो बता ही देगा।" लेकिन हमें किसी ने न बताया। शायद क़सम खा रक्खी थी सबने ! आख़िर हफ़्ते-भर की मेहनत के बाद हमें कुछ-कुछ पता चल ही गया, कि स्टार्ट किस तरह करते हैं। अब सवाल था रोकने का। अ.ख्तर बोली—"जब चल पड़ेगी, तो देखा जायगा।"

कई दिन तक मौक़ा न मिल सका। डॉक्टर साहब को न जाने कहाँ से एक भद्दी-सी मोटर मिल गई। जब वे एक मील दूर होते, तभी हमें पता चल जाता, कि डॉक्टर साहब आ रहे हैं। मोटर का शोर इतना था, कि हॉर्न की जरूरत ही न थी। दो-चार बार मोटर साइकिल पर भी आए, लेकिन तुरन्त ही वापस चले गए। फिर उनका आना बिलकुल ही बन्द हो गया।

मैं तो मन ही मन प्रसन्न था, लेकिन अ.ख्तर मुझे नित्य विवश करती, कि डॉक्टर साहब को बुलाओ। मैं बड़ी नम्रता से कहता, कि भई, किस तरह बुलाऊँ, आख़िर, डॉक्टर साहब को बुलाने के लिए कम से कम एकाध को तो ज़रूर बीमार होना चाहिए।

एक सुबह को हमें पता चला, कि चाचा के सिर में दर्द है; तुरन्त सूझी, कि डॉक्टर साहब को चाचा की ओर से फ़ोन कर दें। हम चोरी-चोरी टेलिफ़ोन के कमरे में गए। कमरा चारों ओर से बन्द कर लिया। अ.ख्तर ने मुझसे कहा, कि मैं मोटी आवाज़ में चाचा की तरफ़ से बोलूँ। मैंने डरते-डरते फ़ोन किया। डॉक्टर साहब की भारी आवाज़ आई—"हल्लो!"

मैंने गला साफ़ करते हुए कहा—"हे हे...लो ओ...!" पहिले आवाज़ बिलकुल पतली थी, फिर अ.ख्तर की चुटकी से एकदम मोटी हो गई।

"कौन साहब हैं ?"—वह बोले।

"जी हम हैं...मेरा मतलब है, कि मैं हूँ...(बहुत मोटे स्वर में) मैं हूँ...!"

"आपकी तारीफ़...?"

"मैं हूँ चाचा...और मेरे सिर में दर्द है। (मैं घबरा गया और फिर आवाज़ पतली हो गई) ...जनाब डॉक्टर साहब, इस वक़्त चाचा फ़ोन पर बोल रहे हैं—आप ज़रा तशरीफ़ तो लाइए!"

"साहब! कुछ समझ में नहीं आता, कि कौन बोल रहा है, और मैं कहाँ आऊँ?" आवाज़ आई। अख़्तर ने मेरे हाथ से चोंगा छीन लिया और भारी स्वर में बोली—"आप पहिचानते ही नहीं डॉक्टर साहब! मैं हूँ (चाचा का नाम ले कर) आप ज़रा आइए तो सही...!"

"ओफ़्फ़ोह! अभी आया!!"

हम भगे सीधे बाग़ की तरफ़—फ़ौव्वारे की आड़ में छिप गए। फट-फट करती डॉक्टर साहब की मोटर-साइकिल कोठी में दाख़िल हुई। उन्होंने सदा की भाँति उसे बरामदे के सामने ठहरा दिया और अन्दर चले गए। मेरा गला सूख रहा था, होंठों पर पपड़ियाँ जमी हुई थीं। हृदय बुरी तरह धड़क रहा था। लेकिन अख़्तर को ज़रा-सी भी परवाह न थी। उसने मेरा हाथ पकड़ा और लपकी सीधी मोटर-साइकिल की ओर। मैं पीछे-पीछे! उसने एक बार फिर मुझे डाँटा और डरपोक कहा। मैं ज़रा बहादुर-सा बन गया। हमने मोटर-साइकिल को बड़ा ज़ोर लगा कर दीवार के साथ लगा दिया। निश्चय हुआ, कि पहिले अख़्तर पिछली सीट पर बैठे, फिर मैं बैठूँ, और वह मेरी कमर पकड़े।

जैसे ही उसने मेरी कमर पकड़ी, मैं उछल कर उतर खड़ा हुआ। ऐसी गुदगुदी हुई, कि बस न पूछिए। खिलखिला कर हँस पड़ा। मैंने कहा—"भई यों नहीं, यों तो गुदगुदी होती है।"

वह बोली—"अच्छा, अब कोट पकड़ लूँगी। मैं फिर बैठा उधर उसका हाथ लगा और मैं हँसते-हँसते बेहाल हो गया। मैंने कह दिया, कि इस तरह तो मैं गिर पड़ूँगा। चलना तो एक तरफ़ रहा। वह कहने लगी—"तो कहाँ गुदगुदी नहीं होगी? मैंने कहा—"बाज़ू पकड़ लो।"

उसने मज़बूती से बाज़ू पकड़ा। उधर मैंने ज़ोर से उछल कर पैर दे मारा, और मोटर-साइकिल स्टार्ट हो गई ! चीख़ते हुए डॉक्टर साहब बाहर निकले...लेना...पकड़ना !!

मोटर-साइकिल जो तेज़ी से चली है, तो बस कुछ पता न चला, कि कहाँ जा रहे हैं। मोतिए के त.ख्तों और फूलदार बेलों को रौंदते हुए पत्तों में घुस गए। फ़ौव्वारे से बाल-बाल बचे, मोड़ कर डब्बू मियाँ को बचाया, नहीं तो वह नीचे ही चला आता। फिर मोटर-साइकिल एकदम तेज़ हो गई—हमने एक क़लाबाज़ी-सी खाई, एक ज़ोरदार धमाका हुआ, और फिर पता न चला, कि हम मोटर-साइकिल के ऊपर थे या वह हमारे ऊपर। थोड़ी देर के लिए मैं बिलकुल बेहोश हो गया।
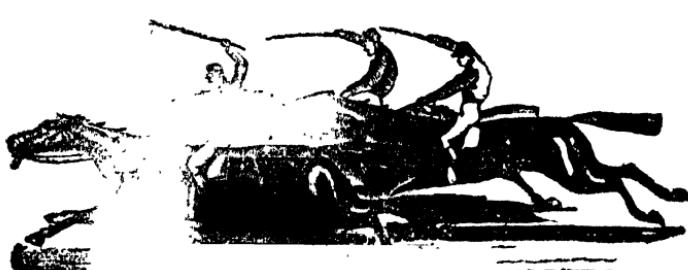
कुछ देर बाद आँख खुली। सदाबहार की टहनियों में इस तरह उलझा हुआ था, कि निकलना असम्भव था। हाथ-मुँह लहू-लोहान हो रहे रहे थे। अब जो हिलने की कोशिश करता हूँ, तो देखता हूँ, कि अख़्तर बाज़ू से चिपटी हुई है, उसकी आँखें बन्द हैं, लेकिन गिरफ़्त उसी तरह है।

बड़ी मुश्किल से बाहर सिर निकाल कर देखा, डॉक्टर साहब, चाचा और दरजनों नौकर हमें ढूँढ़ रहे थे। मैंने अपना बाज़ू छुड़ाना चाहा, बहुत कहा, कि भई अब तो छोड़ो हाथ, लेकिन उसकी गिरफ़्त वैसी ही रही। आख़िर तङ्ग आ कर ठहर-ठहर कर मैं टहनियों से बाहर निकला और साथ ही मेरे बाज़ू से लटकी हुई अख़्तर भी ! मोटर-साइकिल सदाबहार की घनी टहनियों में से पार निकल गई थी, और हम रास्ते में उलझ कर रह गए थे। इसके बाद क्या हुआ ? कुछ न पूछिए। हमें धमकाया गया, हर प्रकार की डाँट दी गई, बड़ों से ले कर छोटों तक—सबने अपनी हैसियत के अनुसार हमें उपदेश दिए। टेलिफ़ोन को एक ऊँची-सी आलमारी पर रख दिया गया (शायद लोगों को यह पता नहीं था, कि हम मेज़ें रखकर वहाँ भी पहुँच सकते थे) डॉक्टर साहब ने तोबा की, कि वह कभी मोटर-साइकिल पर हमारे घर न आएँगे और उसी बेहूदा-सी मोटर पर आया करेंगे, जिससे हमें घृणा थी। अख़्तर के पिता जी को यह सारी कथा लिख कर भेजी गई। हमें किसी दूर के स्कूल में भेजने की धमकी दी गई।

कुछ दिनों बाद अख़्तर कहीं चली गई, मुझे भी किसी और जगह

पढ़ने के लिए भेज दिया गया। फिर मुद्दत के बाद उसकी एक तस्वीर आई, जिसमें वह ऐसी बनी हुई थी, कि मुझे विश्वास ही न आता था, कि वह वही छोटी-सी नटखट अख्तर है, जिसके हाथ और कपड़े मिट्टी में सने रहते थे, जिसने मेरी कलाई में इस बुरी तरह काट खाया था। कई और चित्र आए। हर नए चित्र में वह गम्भीर और अच्छी बनती गई। फिर सुना, कि उसकी कहीं मँगनी हो गई, उसके पत्र आने बन्द हो गए। इसके बाद कुछ पता न चला, कि वह कहाँ है।

हाँ, तो मैं कह रहा था, कि आज सुबह मोटर-साइकिल स्टार्ट करते समय मैं ठिठक कर रह गया। यों ही बात याद आ गई ! बिलकुल ऐसी ही रङ्गीन सुबह थी, ओस की बूँदें मोतियों की तरह चमक रही थीं, गुलाब की क्यारियाँ लाल हो रही थीं, वायु के मन्द-मन्द झोंके भाँति-भाँति की सुगन्ध फैला रहे थे, रङ्ग-बिरङ्गे पक्षियों की सीटियाँ सुनाई दे रही थीं। मैंने जल्दी से मुड़ कर खिड़की की ओर देखा, कि शायद परदों के पीछे कोई नीली आँखों और सुनहरे बालों वाली गुड़िया मुझे मुँह चिढ़ा रही हो और हाथ बाहर निकाल कर जोर से कह दे—'डरपोक !'

सुपर-सोप

कलकत्ता के धर्मतल्ला की ह्वाइटवे लेडलॉ की जगमगाती भव्य दूकान देख कर पुट-पानी से दिव्य हो, बने-ठने चौबे जी की आँखें चौंधियाँ गईं! कहाँ गाँव के तिनकौड़ी तेली की इकलौती नाममात्र की दूकान, और कहाँ यह साज़-सामान? ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ था! चौबे जी का अड्डा सदा ग़रीब तिनकौड़ी की दूकान के सामने की टूटी-टाटी मचमचाती खाट पर रहता था। कभी किसी सौदे की आवश्यकता हुई, तो घुटी-घुटाई तिनकौड़ी की खोपड़ी पर तड़ से चपतबाज़ी की और मनमाना दाम दे कर, जो चाहा, ले लिया, अथवा सुअवसर मिला, तो अण्टी का पैसा बचाकर दो-एक चीज़ें वैसे ही तिड़ी कर दीं। चौबे जी का उधारखाता, तो गोया तिनकौड़ी का दूसरे जन्म के लिए पैसे जमा करना था!

किन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी थी। सन्तरी-चाचा सामने ही फाटक पर, सङ्गीन लगाए, तने खड़े थे। दाल गलने की कोई उम्मीद ही न थी। चौबे जी ने सोचा, कि इतनी दूर कलकत्ते आकर, यदि ऐसी प्रसिद्ध दूकान का नैन-सुख न मिला, तो तीर्थ का फल ही अधूरा रह जायगा! फिर डींगे हाँकने में भी कमी रह जायगी! क्या करें, भय और सङ्कोच से पैर उठ नहीं रहे थे, फिर मन की कैसे निकलती?

चौबे जी के तर्क-वितर्क को सन्तरी की फटकार ने तोड़ा—"क्या देख रहे हो? भीड़ मत लगाओ, चलो आगे बढ़ो!"

चौबे जी उसके रुआब में आ बोले—"सिपाही जी, दूकान देखनी है।"

सन्तरी बोला—"दूकान देखनी है या हाथ साफ़ करना है। कुछ लेना-देना भी है या नहीं?"

चौबे जी का सर अपने आप हिल गया। सन्तरी ने अन्दर की ओर इशारा किया! चौबे जी अन्दर घुसे, तो वहाँ की सफ़ाई देख फ़र्श पर अपना सलेमशाही जूता रगड़ने लगे। इतने में एक एङ्गलो-इण्डियन ने आ कर पूछा—"कहिए, क्या चाहिए? किधर ले चलूँ?"

बेचारे चौबे जी की, सूटेड-बूटेड गौराङ्ग प्रभू को देख कर घिग्घी बँध गई! किसी प्रकार दाँत निकालते हुए बोले—"हीं-हीं-कहीं नहीं, ज़रा इसी दूकान............।"

उसने बात काटते हुए कहा—"जहाँ कहिए ले चलूँ। हैट-विभाग, गञ्जी-विभाग, मोज़ा-विभाग, खिलौना-विभाग, शृङ्गारिक वस्तु विभाग, फुटकर विभाग, छाता-छड़ी-विभाग, साबुन......!"

"बस, बस, बस।" चौबे जी माथे से पसीना पोंछते हुए बोले—"इसी सा...बु...न, साबुन में में ले चलिए।"

मन ही मन उन्होंने सोचा—चलो, पैसे-दो पैसे की बटिया नहाने-धोने के निमित्त ले लेंगे।

रास्ते में दूसरे खण्ड पर पहुँचने के लिए लिफ़्ट में बन्द होना पड़ा। और जब लिफ़्ट ऊपर चली, तो उन्हें शक होने लगा, कि कहीं सशरीर स्वर्ग धाम की यात्रा तो नहीं करने जा रहे हैं! वे शायद चिल्लाते, पर तब तक लिफ़्ट रुक गई और वे बाहर निकले, पसीने से सराबोर और बौखलाए से!

घूमते-घामते, साबुन-विभाग तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने अपना दिमाग़ बहुत कुछ सही कर लिया और बारीक दुपट्टा महीन अन्दाज़ से हिलाते हुए वे वहाँ दाखिल हुए।

मुस्कुराते हुए एक व्यक्ति ने आगे बढ़ कर पूछा—"कहिए, क्या दिखलाऊँ? नहाने का, हजामत बनाने का, रँगने का, बाल उड़ाने का अथवा दवा का?"

चौबे जी उस तोते की वार्ता सुन कर सहमते हुए बोले—"शरीर में लगाने के लिए चाहिए।"

"अच्छा कौन-सा दूँ? चर्बी का, अलकतरे का, ग्लिसरिन का, शुद्ध तेल का......!"

चौबे जी की बुद्धि को पञ्चतत्व प्राप्त हो रहा था; घबड़ा कर बोले—"नहीं, नहीं, आप दिल्लगी न करें। मैं शुद्ध सनातनी हूँ। मुझे......।"

"कोई हर्ज नहीं, आप बिना चर्बी का लीजिए। इससे आप अपनी चर्बी भी घटा सकते हैं। हाँ, तो मूँगफली के तेल का, महुए के तेल का अथवा मछली के तेल का? कौनसा चाहिए?"

"अरे म...छ...ली का तेल!" चौबे जी घबराए।

"हाँ, हाँ, बङ्गाली बाबू, सनातन धर्मी सभी लगाते हैं। ख़ैर, जाने दीजिए, आप को एतराज़ है, तो आप महुए वाला लीजिए। कहिए कड़ा दूँ या मुलायम?"

चौबे जी के नाकों दम आ गया। सोचा, कि बुरी जिरह में फँसे। एक बार जब अपने जिजमान के लिए झूठी गवाही देने कचहरी जाना पड़ा था, तो वकीलों की जिरह भी ऐसी ही हुई थी। पर वहाँ से लौटने पर तो दक्षिणा और कचौड़ी दोनों मिली थीं, किन्तु यहाँ तो बेभाव की पड़ने जा रही है। वहाँ तो रटा-रटाया मामला था, मैदान तुरत सर कर लिया; किन्तु यहाँ की आफ़त की किस भकुए को उम्मीद थी? जब बेचारे तिनकौड़ी से इस शरीर और शरीर की अँगौछी के वास्ते दो डबल की बट्टी लेता, तो वह चूँ भी नहीं करता था, पर यहाँ तो दरबार ही अलग है। बुरे फँसे! पता नहीं, किस कुसाइत में दूकान में पैर डाला था!

जो भी हो, चौबे जी की रसगुल्ले-हलुवा गटकने की आदत ने मुलायमियत से कहला ही दिया—"मुलायम चाहिए।"

"बहुत ख़ूब! मैसूरी, मालाबारी, बनारसी, कानपुरी, बिलायती, जर्मनी, जापानी, तुर्किस्तानी...।"

चौबे जी को काला अक्षर भैंस बराबर था। फिर वे दुनिया की ज्योग्राफ़ी क्या जानें? तब भी जीवन में एक बार स्वदेश-प्रेम जगा कर वे बोल उठे—"मुझे हिन्दुस्तानी चाहिए, हिन्दुस्तानी!"

'अच्छा, तो फिर मैसूर का लीजिए ठीक रहेगा'

चौबे जी ने मन्त्र-मुग्ध की नाईं, यानी गिरगिटान की तरह सिर हिला दिया।

"अच्छा, तो मैसूर के बाथ-सोप, गुलाब-सोप, लैवेण्डर-सोप, लाज़री-सोप, सन्दल-सोप, चमेली-सोप ? सभी एक से एक बढ़ कर हैं। आपको कौन सा पसन्द है ?"

चौबे जी बग़लें झाँकने लगे। दिल में कहा—"या भगवान, इस जिरह का कहीं अन्त भी है या नहीं ? कैसे यहाँ से छुटकारा मिले ?"

इन्हें चुप देख वह व्यक्ति बोला—"अवश्य आपको चुनने में कठिनाई हो रही होगी, क्योंकि इस कम्पनी के साबुन ही ऐसे हैं। फिर भी मेरी व्यक्तिगत सलाह मैसूर सन्दल के लिए ही है।"

चौबे जी की बुद्धि बहुरी। डूबते को तिनके का सहारा मिला, बोले—"अच्छा, आपकी राय में सर्वश्रेष्ठ साबुन कौनसा है ? क्या यही सबसे अच्छा है ?"

"नहीं, ऐसा तो नहीं है। एक सुपर सोप हमारे यहाँ है, जिसके टक्कर का यहाँ बाज़ार भर में न मिलेगा। यहाँ के लाट उसे रगड़ते हैं। कहिए, तो दिखलाऊँ ?"

परदे से झाँकती बुद्धि ने चौबे जी को इशारा किया, वे सहम कर कलेजा थाम धीरे से बोले—"कितना दाम है ?"
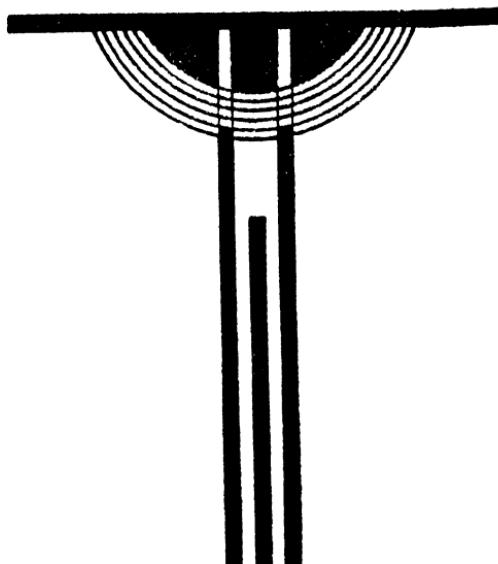
"यही कोई तीन रुपए पेटी का। पर आप तो कोई बड़े ग्राहक मालूम होते हैं। यह तो क्लियेरेन्स सेल का दाम बताया है, पर फिर भी आपको अधिक लेने पर २५ रु० सैकड़े कमीशन मिलेगा !"

बाप रे बाप ! तीन रुपए तो मेरे बाप भी मेरे लिए नहीं छोड़ गए थे। तिस पर यह न मालूम क्या बला, है ? कमीशन, इसे कौन गले बाँधेगा ? आदि बातें सोचते हुए चौबे जी को ग़श-सा मालूम होने लगा। बड़ी मुश्किल से सँभलते हुए बोले—"मेरी तबीयत ज़रा ठीक नहीं मालूम होती। अभी बाहर से आता हूँ।"

दूकान के व्यक्ति ने अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा--"आप ख़ुशी से जाइए। किन्तु इतना सस्ता आपको और कहीं नहीं मिलने का।"

परन्तु चौबे जी तो पहिले विभाग की ड्योढ़ी पार कर चुके थे, यह बात सुनता कौन ? किसी तरह बाहर पहुँच कर उन्होंने ठण्डी साँस ली

और ऐसी मूर्खता पुनः न दुहराने का प्रण किया। गाँव की देवी तो दमड़ी के रेवड़ी-बताशे के चकमें में आ गई, परन्तु चौबे जी अब साबुन के नाम पर कान पकड़ कर बैठक लगाते हैं। सुना है, उन्होंने साबुन का प्रयोग तक करने की शपथ ले ली है!

लखनऊ का स्टेशन एक दर्शनीय स्थान है। बाहर के यात्रियों को वह एक स्मारक-जैसा प्रतीत होता है। उसके सुन्दर गुम्बद, सुन्दर कलामय कृतियाँ प्रत्येक आगन्तुक का ध्यान आकर्षित करती हैं। मेरे प्रथम आगमन के समय लखनऊ का स्टेशन मेरे लिए अत्यन्त मनोरञ्जक प्रतीत हुआ। सन्ध्या समय बिना स्टेशन गए मुझे चैन नहीं मिलता। बुक-स्टॉल की किताबें तथा यात्रियों को देखना, यही मेरे ख़ास काम थे। वहाँ बहुत देर घूमने पर भी मेरा दिल नहीं ऊबता था।

शरद् ऋतु अपनी अन्तिम घड़ी में आँसू बहा रही थी। स्टेशन पर ऐङ्ग्लो-इण्डियन और यूरोपियनों के झुण्ड के झुण्ड खड़े थे। मसूरी और नैनीताल के बच्चों के स्कूल खुल रहे थे, और माता-पिता अपने बच्चों को विदा करने आए थे। स्टेशन पर ख़ूब शोर मचा हुआ था! देहरादून-एक्सप्रेस के आने का समय हो गया था। मैं चुपचाप घूम रहा था। एक बुर्क़ा-नशीन स्त्री एक किनारे खड़ी थी। उसके साथ कोई न था। मैं ज्यों ही लौटा, कि उस स्त्री ने बुर्क़ा पीछे डाल दिया। उसका सौन्दर्य्य आकर्षक और मोहक था! एकाएक उसने पूछा—"बाबू, मेहरबानी करके यह बताइए कि मेरा टिकट कहाँ का है?"

मैं एक क्षण के लिए रुक गया और बोला—"उस टिकट-कलेक्टर से पूछिए। मैं रेलवे कम्पनी का नौकर नहीं हूँ।" मैंने ऐसा रूखा जवाब क्यों दिया था, इस बात को आज भी समझ सकने में असमर्थ हूँ। हाँ, यह बात मैं अवश्य मानूँगा, कि मैं लखनऊ पहले-पहल आया था, और यहाँ पर नवागतों के ठगे जाने के कई क़िस्से सुन चुका था।

उस स्त्री ने .गुस्से से कुछ गुनगुनाना शुरू कर दिया। मैं कुछ झेंपा, परन्तु आगे बढ़ गया।

आगे बढ़ते ही सामने से गङ्गा-जमुनी दाढ़ी वाले एक मुसलमान सज्जन आते दिखलाई पड़े। उनकी आँखों में सुरमे की रेखाएँ उनके विलासी जीवन की शहादत दे रही थीं। सुन्दर अचकन, चूड़ीदार पैजामा और हाथ में छोटी-सी पुटलिया, उनमें एक .खुसूसियत पैदा कर रही थी। वे मेरे बग़ल से हो कर निकल गए। मैंने आगे बढ़ते-बढ़ते पीछे को ओर दृष्टि की, तो देखा, कि वह सज्जन उस युवती के साथ बातें कर रहे हैं, और एक मन्द हास्य उनके चेहरे पर खेल रहा है।

देहरादून एक्सप्रेस आ पहुँची। स्टेशन पर कोलाहल बढ़ गया। फेरीवालों ने अपने स्वर को बलन्द करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। मुसाफ़िरों का उतरना-चढ़ना शुरू हुआ। मैं भी ट्रेन के पास टहलने लगा। एकाएक किसी ने मुझे पुकारा। मैंने मुड़ कर देखा, तो फ़रहत पुकार रहा था। एक इण्टर क्लास के डिब्बे में वह बैठा था। मैं भी डिब्बे में बैठ गया। हम बातें करने लगे। कुछ देर में वह मुसलमान सज्जन भी उसी डिब्बे में आ कर बैठ गए। वह आ कर बैठे ही थे, कि एक स्त्री टिकट-कलेक्टर डिब्बे में आ कर बोली,—"इण्टर क्लास लेडीज़ कम्पार्टमेण्ट में जो एक लेडी है, उसका टिकट किसके पास है?"

हम लोग तो चुप बैठे थे। फ़रहत तो अकेला ही जा रहा था। दूसरे दो यात्री अपना सामान रख कर प्लेटफ़ॉर्म पर टहल रहे थे। वह स्त्री लेडीज़ इण्टर क्लास में वापस जा कर फिर आई और उन मुसलमान सज्जन को लक्ष्य करके बोली,—"मिस्टर, आपकी 'वाइफ़' (पत्नी) का टिकट कहाँ है?"

मौलाना घबड़ा कर बोल उठे, "मेरी वाइफ़! मेरी वाइफ़ तो साथ नहीं हैं!"

टिकट-कलेक्टर चिढ़ कर चिल्ला उठी—"अच्छा, चलो फिर उस डिब्बे में!"

मौलाना नीचे उतरे। मैं भी खिड़की से सिर निकाल कर तमाशा देखने लगा। लेडीज़ कम्पार्टमेण्ट में से सिर निकाल कर एक स्त्री ने कहा—

"इन्हें टिकट दिखा दीजिए !" मैंने उस स्त्री को पहचाना। वह वही बुर्क़ वाली थी, जिसने मुझे टिकट पढ़ने को कहा था।

मौलाना बोले,—"कौन-सा टिकट ?"

"अरे, आप भी मज़ाक़ करते रहते हैं। टिकट बता क्यों नही देते ?"

मौलाना के चेहरे का रङ्ग उड़ गया, और घबड़ा कर बोले,—"यह हमारी वाइफ़ नहीं हैं, और इसका टिकट मैं नहीं जानता !"

टिकट-कलेक्टर कुछ बोलना ही चाहती थी, कि वह बुर्क़ा वाली बोल उठी—"आप क्या कर रहे हैं ? हँसी-दिल्लगी घर में होती है, पर आप तो खुलेआम स्टेशन पर भी मज़ाक़ करने से बाज़ नहीं आते !"

इन शब्दों में एक प्रभाव था। टिकट-कलेक्टर को यक़ीन हो गया कि मियाँ साहब के पास टिकट था, और वह मज़ाक़ कर रहे थे। वह कड़क कर बोली,—"मिस्टर, अपने प्राइवेट झगड़े को स्टेशन पर लाने की ज़रूरत नहीं है। टिकट बतलाइए, नहीं तो आपकी वाइफ़ को मैं गाड़ी से उतार दूँगी।"

"पर मैं अल्लाह की क़सम खा कर कहता हूँ कि यह मेरी वाइफ़ नहीं है।"

"अल्लाह की क़सम खाते शर्म नहीं आती ! अभी अभी तो सीधे थे। इतनी देर में क्या हो गया !"—बुर्क़ा वाली बोल उठी।

कुछ लोग जमा हो गए। एक पण्डितजी बोल उठे—"मौलवी साहब, आप टिकट क्यों नहीं दिखाते ?"

"अरे भाई, यह मेरी बीबी नहीं है। टिकट कहाँ से बताऊँ ! मालूम नहीं, यह बला कहाँ से आई !"

बुर्क़ा वाली उन पण्डित जी से कहने लगी—"इनकी तो यही आदत है। जहाँ देखो, वहाँ मज़ाक़ ! कम से कम दुनिया का तो ख्याल रखना चाहिए।"

मौलाना के मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। एक्सप्रेस में एक डिब्बा और जुड़ रहा था, इसलिए ट्रेन के खुलने में कुछ देर थी। वह ऐङ्ग्लो-इण्डियन स्त्री भी कुछ चकरा गई। एक ऐङ्ग्लो-इण्डियन मर्द टिकट-कलेक्टर इधर से आ निकला। स्त्री टिकट-कलेक्टर ने यह बात उससे कही। वह बोला,

"Yes, they are husband and wife. I just saw them chatting all right. Perhaps they have fallen out and this rogue is deserting her," (हाँ, वह मियाँ-बीबी हैं। मैंने तो इनको अभी मजे में बातें करते देखा है। शायद लड़ पड़े हैं, और यह बद-माश औरत को छोड़ कर भाग रहा है।)

उपस्थित सज्जनों की सहानुभूति बुर्क़े वाली स्त्री के प्रति उमड़ पड़ी। मौलाना ने चारों ओर मायूसी की नज़रों से देखा। कोई उपाय नहीं था। मुझे मौलाना की अवस्था पर तरस आया। मैंने उस स्त्री टिकट-कलेक्टर से कहा कि बुर्क़े वाली के पास एक टिकट है ज़रूर, क्योंकि वह मुझसे भी पढ़-वाने आई थी।

टिकट-कलेक्टर ने कहा, "All right, I will see" (अच्छा, मैं देखूँगी)।'

वह जाकर बुर्क़े वाली से बोली—"तुम टिकट दिखाओ, नहीं तो गाड़ी से उतरो!"

"टिकट तो उनके पास है!"

"मैं कुछ नहीं जानती। टिकट दिखाओ, नहीं तो पुलिस को बुलाना पड़ेगा।"

वह कुछ घबड़ा कर बोली—"हमारा टिकट तो उनके पास है, और हमारी बेइज्ज़ती ख्वामख्वाह करा रहे हैं।"

इन शब्दों ने पुनः एक समस्या खड़ी कर दी। मौलाना वहाँ से हटने की फ़िक्र में थे, पर हटना कठिन था। इस विषय में सच-झूठ का निर्णय कैसे हो टिकट-कलेक्टर घबड़ा कर स्टेशन-मास्टर को बुला लाई।

"साहब, मैं बाल-बच्चे वाला आदमी हूँ। इसका टिकट पढ़ने खड़ा हो गया, यही मेरा गुनाह था। अब अल्लाह की क़सम खा कर कहता हूँ, कि किसी पराई औरत से बातें नहीं करूँगा।"—मौलाना ने गिड़गिड़ा कर कहा। परन्तु उनकी बातों पर किसी को भी विश्वास नहीं होता था। सब की सहानु-भूति उस सुन्दरी की ही ओर थी। स्टेशन-मास्टर ने कुछ सोच कर कहा—"तुम मियाँ-बीबी हो कि नहीं, इससे रेलवे कम्पनी को कोई काम नहीं है। तुम औरत का टिकट दिखाओ, नहीं तो उतरो।

बुर्क़े वाली ने अब उतरना मुनासिब समझा। मौलाना गाड़ी में बैठ गए। एकाएक वह बोल उठी, "हरामज़ादे, तेरे नसीब में कालिख लगी हुई है। अपनी बीबी का मज़ाक़ करने से भी बाज़ नहीं आता!"

ट्रेन खुल गई और वह वहीं खड़ी रह गई।

उसकी आँखों में क्रोध था, और मुख पर निराशा। मैं सोच रहा था, जो टिकट वह सब से पढ़वाने की कोशिश करती थी, उसका क्या हुआ? मौलाना उससे अपरिचित थे, यह बात तो स्पष्ट हो ही चुकी थी, किन्तु उस औरत ने यह फ़रेब क्यों रचा, यह समझ में नहीं आया। मैं आगे बढ़ा और बाहर निकलते हुए एक बार पुनः पीछे की ओर दृष्टि फेरी, तो देखा, वह बुर्क़े वाली बहुत ही निराश-सी खड़ी थी और अपना बुर्क़ा फिर से ओढ़ रही थी! मैं बाल-बाल बचा!

"डॉक्टर साहब, शादी तो आपको कर ही लेनी चाहिए, अभी आपकी उम्र ही क्या है?"

"भाई, मेरे लिए तो जीवन में अब कोई आकर्षण नहीं रह गया, मेरी तो यही इच्छा होती है कि कहीं जङ्गल में निकल जाऊँ; मगर फिर घर का ख्याल रोक लेता है। शादी करना तो भाई, उस देवी के प्रति विश्वासघात होगा।" डॉक्टर साहब ने बहुत मरी जबान से कहा।

डॉक्टर कृपाशङ्कर अधेड़ उम्र के आदमी थे, शरीर से तन्दुरुस्त। आपकी पत्नी को मरे एक साल हो रहा था। जिस वक़्त उसकी मौत हुई, डॉक्टर साहब रोते-रोते पागल-से हो गए थे, परन्तु समय पा कर शोक का वेग धीमा पड़ने लगा। डॉक्टर साहब ने निश्चय कर लिया था, कि दूसरी शादी नहीं करेंगे। एक महीने बाद जब एक साहब शादी का पैग़ाम लेकर आए, तो डॉक्टर साहब ने उन्हें बुरी तरह फटकारा—"आपको शर्म नहीं आती, मेरे तो कलेजे पर छुरियाँ चल रही हैं, आपको शादी की सूझी है", दो-तीन महीने तक शादी के नाम पर डॉक्टर साहब ने इतनी तेजी दिखलाई, कि बीच में पड़ने वाले लोगों की भी, जो इस तरह की क़ज़ाबाजियों के अभ्यस्त थे, यक़ीन हो गया, कि वे अब शादी न करेंगे, इसलिए इधर छः-सात महीनों से उनके पास कोई पैग़ाम नहीं आया। डॉक्टर साहब अब घबड़ा-से गए। उन्हें विश्वास था, कि उनका इन्कार जितना ही कड़ा होगा, लोगों का आग्रह उतना ही बढ़ता जायगा। अब उन्हें पता चला, कि वे अपने पार्ट को जरूरत

से ज्यादा अदा कर गए। उन्हें अब पछतावे के साथ-साथ बड़ी झुँझलाहट भी हो रही थी। सबसे ज्यादा खीझ उन्हें अपनी बड़ी बहन पर हो रही थी, जो उनके घर का प्रबन्ध करती थीं। क्या वे इतनी अन्धी थीं, कि कुछ देख नहीं सकती थीं। डॉक्टर साहब ने अब उन्हें इशारे देने शुरू किए। एक रोज़ बोले—"जीजी, तुम्हें इन बच्चों की देख-भाल में बड़ी चिन्ता होती है, मुझसे तुम्हारा यह जान देना देखा नहीं जाता, मैं तुम्हें भी खाना नहीं चाहता।"

बेचारी भोली विधवा अभिमान से गद्‌गद् हो गई। भाई को उसका कितना ख्याल है! वह बोली—"भैया, तुम भी कैसी बात करते हो? गोया दस-बीस बच्चे हों। एक बिटिया और मुन्ना की सँभाल मुझसे न हो सकेगी!"—उसने डबडबाई आँखों से बच्चे को कलेजे से लगा लिया।

डॉक्टर साहब दाँत पीसते हुए उठ गए। उनका तीर खाली गया। कुछ दिन बाद उन्होंने दूसरा नाटक रचा। अब वे खाने-पीने में लापरवाही करने लगे। खाते-खाते उठ जाते थे। पहले अच्छे-अच्छे और साफ़ कपड़े पहनते थे, अब उन्हें जल्दी बदलते न थे, सोने में भी देर करते थे जब बहन को आते देखते, तब मुँह बना कर कुछ सोचने लगते और ठण्डी साँस भर कर कहते—"अब किसके लिए हाय हाय करूँ।"

भाई का यह दुःख देख कर बहन की छाती फटने लगती, उसने पहले एक-दो बार दूसरे ब्याह के बारे में सोचा भी था, मगर फिर भाई का यह शोक देख कर उसे कुछ कहने की हिम्मत न रही।

डॉक्टर साहब बेक़रार रहने लगे। वे सोचते, अब क्या किसी को अपनी कन्या के विवाह की फ़िक्र रह ही नहीं गई? अब वे मित्रों से कहते—"लोग तो मुझ पर बड़ा दबाव डाल रहे हैं, मगर मेरा दिल ही नहीं गवाही देता, फिर बच्चों की तकलीफ़ और बहन की परेशानी भी देखी नहीं जाती। अजीब परेशानी है—कर्त्तव्य और प्रेम में द्वन्द्व है।"

मित्र भी उदासीनता से सिर हिला देते। अवसर मलने पर डॉक्टर साहब अब दूसरी शादी के सम्बन्ध में बराबर चर्चा करते, अपनी मण्डली में वे कहा करते—"दूसरी शादी की ज़रूरत तो है, मर्दों के लिए भी और औरतों के लिए भी; ख़ास करके उस शख़्स के लिए, जिसकी पहली शादी ख़ुशी से बीती हो, क्योंकि मनुष्य का यह स्वभाव है, कि वह जिस अनुभव

से सुख पाता है, उसे दोहराने का प्रयत्न करता है!" अधेड़ उम्र में शादी करने के पक्ष में तो उनकी दलीलें और भी जोरदार होतीं। वे कहते, कि "सच पूछिए, तो शादी का असली मक़सद अधेड़ उम्र में ही पूरा होता है। जवानी में तो महज़ जोश के वलवले रहते हैं, शादी-जैसे महत्त्वपूर्ण और गम्भीर प्रयोग के लिए जवानी के जोश की नहीं, बल्कि अधेड़ अवस्था के अनुभवों की आवश्यकता है। नव-वधू के कोमल हृदय को जितनी सावधानी से अभ्यस्त खिलाड़ी क़ाबू में रख सकता है, उतना नासमझ नवयुवक नहीं।"

अपनी इन युक्तियों के समर्थन में वे यूरोपियनों के उदाहरण पेश करते। हाँ, अन्त में वे यह ज़रूर कह दिया करते थे, कि ये बातें उनके ऊपर लागू नहीं होतीं।

धीरे-धीरे उनकी बातों से उनके मित्र कुछ प्रभावित हुए। लाला छेदीलाल जी तो अब उन पर बहुत जोर देने लगे। वे कहते, कि "डॉक्टर साहब, आपको तो दुनिया के सामने महज़ एक मिसाल रखने के लिए शादी करनी चाहिए। हरेक फ़िलॉसफ़र और वैज्ञानिक अपने विचारों पर अमल करने के लिए वाध्य है। जब आपके यह विचार हैं, तो व्याह करना आपका कर्त्तव्य है। अगर आप पीछे हटते हैं, तो आप पर भी लोग 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' का दोष लगाएँगे।

डॉक्टर साहब को इस दलील का क़ायल होना पड़ा और उन्होंने विवश होकर हामी भर दी

मित्रों ने ढूँढ़-ढाँढ़ कर जल्दी ही उनकी शादी तय कर दी। कन्या के पिता गाँव के रहने वाले एक साधारण गृहस्थ थे। खेती बारी और पण्डिताई-वृत्ति से किसी तरह उनका काम चलता था। लड़की स्वस्थ और सुन्दर थी, उसको घर पर संस्कृत और हिन्दी अच्छी तरह से पढ़ाई गई थी। ग़रीबी के कारण वे दहेज नहीं दे सकते थे। लड़की काफ़ी सयानी हो गई थी, परन्तु उसे अपढ़ के हाथ देने का उनका जी भी नहीं करता था; अस्तु उनके गाँव ही के एक सज्जन ने, जो शहर में नौकर थे, और डॉक्टर साहब के परिचितों में से थे, डॉक्टर साहब का जिक्र किया। वे सहर्ष तैयार हो गए, उन्हें इस बात का सन्तोष था, कि लड़की पढ़े-लिखे और सम्पन्न वर को सौंपी जा रही है।

विवाह का दिन समीप आ गया। डॉक्टर साहब ने पहले ही से प्रोग्राम बना लिया था, क्योंकि शादी सिद्धान्त के लिए हो रही थी, इसलिए धूम-धाम का सवाल ही न था। केवल थोड़े से सम्बन्धियों और मित्रों को ले कर बारात रवाना हुई। डॉक्टर साहब ने कपड़े सादे पहन रक्खे थे और उनके शरीर पर या वेश में कोई ऐसा चिह्न न था, जिस से यह पता चलता, कि वे वर-यात्रा कर रहे हैं। उनकी बहन और रिश्ते के एक चचा ने इसका विरोध किया, परन्तु डॉक्टर साहब ने एक न सुनी। चचा उन्हें मौर और बागे की उपयोगिता समझा सके, अन्त में हार कर वे चुप हो गए।

ट्रेन चली जा रही थी। डॉक्टर साहब समाज-सुधार की आवश्यकता पर ज़ोर देते जा रहे थे। उनका कहना था, कि "हमें छोटी से छोटी बात में भी समाज-सुधार का दृष्टिकोण सामने रखना चाहिए, क्योंकि बुराइयाँ इतनी छोटी-छोटी सी बातों तक में घुसी हैं, कि बिना इसके वे दूर हो ही नहीं सकतीं। विवाह-जैसे गम्भीर अवसर पर हुल्लड़ या तूल-तमाशे को वह यौवन की उच्छृङ्खलता ही मानते थे, अधेड़ विवाह इस दिशा में भी पथ-प्रदर्शन कर सकता है।" मित्र लोग उनकी बातों में मशग़ूल थे, इतने में स्टेशन आ गया। गाड़ी बहुत थोड़ी देर रुकती थी। जल्दी सब लोग उतर गए। चचा जी को डॉक्टर साहब की बातों में विशेष आनन्द नहीं आ रहा था। अस्तु, उन्होंने एक झपकी ले ली थी। जब वे भड़-भड़ा कर उतरने लगे, तो इतने ही में गाड़ी ने सीटी दे दी। चचा जी ने बौखलाहट में ज्यों ही क़दम नीचे रक्खा, कि डण्डा छूट गया और वे सीधे स्टेशन की कँकड़ीली ज़मीन पर आ गिरे! लोगों ने दौड़ कर उन्हें उठाया। चोट काफ़ी आ गई थी, कमर में बड़ी ज़बरदस्त चोट लगी थी। वे चल भी नहीं सकते थे, बारात के स्वागत के लिए एक डोला भी लाया गया था, डॉक्टर साहब यों भी उसमें न बैठते, इसलिए चचा जी उसी में लिटा दिए गए। बारात को लेने के लिए स्टेशन पर दो ही तीन आदमी आये थे, बाक़ी लोग गाँव के पास जनवासे में तैयारी कर रहे थे। जब चचा जी की चोट तथा सामान सँभालने वग़ैरह की हड़बड़ी से फ़ुर्सत हुई, तो बराती लोग अगवानी करने वालों की ओर मुख़ातिब हुए।

उधर अगवानी की पार्टी में अजीब खलबली थी। शादी का समाचार फैलते ही गाँव के आदमी कन्या के पिता के शुभचिन्तक हो गए थे। उन्हें पण्डित जी के मामले में सहसा दिल-चस्पी हो गई थी। गाँव के ज़मीदार, पण्डित अलगू मिश्र, कन्या के चचा होते थे। अपने लड़कपन में उन्होंने शहर के डी० ए० वी० स्कूल में कुछ दिनों तक शिक्षा पाई थी, लेहाज़ा समाज-सुधार के मामलों में उन्हें कुछ दिलचस्पी थी। शुरू-शुरू में उन्होंने हर रविवार को हवन करना शुरू किया था; चूँकि जाड़े के दिन थे, इसलिए काफ़ी लोग इस पवित्र कार्य में शरीक होते थे, परन्तु गर्मी की ऋतु के साथ ही ऋषियों की सन्तानों की अब अपने पूर्वजों के इस काम में दिलचस्पी भी कम हो गई। जब मिश्र जी के एक शक-मिज़ाजी मित्र ने यह इशारा किया, कि आग तापने का आकर्षण हवन-कार्य की सफलता का शायद एक कारण था, तब वे बहुत नाराज़ हुए, और गाँव वालों की उदासीन मनोवृत्ति से दुखी हो कर उन्होंने वह सत्कार्य भी बन्द कर दिया। अब वे गुग्गुल जला कर तथा दो-चार हवन के मन्त्र पढ़ कर ही सन्तोष कर लेते थे।

उन्होंने ज्यों ही यह सुना, कि पण्डित जी की लड़की की शादी शहर के एक डॉक्टर से तय हो गई, त्यों ही उन्होंने गम्भीर भाव से सिर हिलाया। उपस्थित सज्जनों ने भी सिर हिलाया। दो-एक रोज़ के बाद अलगू मिश्र पण्डित जी के यहाँ पहुँचे और उनके कन्या-ऋण से मुक्त होने पर प्रसन्नता प्रगट की। पण्डित जी बोले—"भाई ईश्वर की दया है, मैं तो बड़ी चिन्ता में था, किन्तु लड़की के भाग्य अच्छे हैं, गो कि वर दुहेजू है, मगर अभी उम्र ज्यादा नहीं है।"

"अच्छा, वर दुहेजू है ?"—अलगू मिश्र जी के पेट में चूहे कूदने लगे। उनके तेज़ दिमाग़ के सामने कन्या-विपय की भयङ्कर तस्वीर खिंच गई।

दूसरे रोज़ तमाम गाँव में यह बात फैल गई, कि पण्डित धन के लोभ से अपनी लड़की बुड्ढे को दे रहा है; किन्तु पण्डित जी को इस बात का पता उसी रोज़ लगा, जब उनके यहाँ बारात आने वाली थी। न्योते में आई हुई एक वृद्धा ने बड़ी हमदर्दी से जब यह बताना शुरू किया, कि

लड़की को कोई तकलीफ़ न होगी, क्योंकि वर की उम्र साठ वर्ष की है, मगर इसके भाग्य में सुहाग होगा, तो दस वर्ष तक तो वह ज़रूर माँग में सिन्दूर भरेगी और चूड़ी पहनेगी।

पण्डित जी को काटो तो ख़ून नहीं, गाँव वालों ने हमदर्दी का मौक़ा भी बहुत अच्छा चुना था। मगर उन्होंने विश्वाश दिलाया, कि नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता, और जिन सज्जन ने शादी तय कराई है, वह बारात के साथ आ रहे हैं, गाँव के आदमी हैं, कभी धोखा नहीं दे सकते। बहरहाल पण्डित जी बेचारे बड़ी परेशानी में पड़ गए, स्त्री को धीरज बँधावें, कि जनवासे का इन्तज़ाम करें, या बरात की अगवानी करें। निदान उन्होंने अलगू मिश्र से अनुरोध किया, कि "भैया, कृपा करके तुम्हीं स्टेशन चले जाओ और वहाँ शुक्ल जी (विवाह तय कराने वाले) से भेंट करके गाँव वालों का सन्देह दूर करो।

अस्तु, 'अगवानी' की पार्टी में मिश्र जी ही नेता थे। उन्होंने बरातियों में शुक्ल जी को ढूँढ़ना शुरू किया। मगर पता चला, कि शुक्ल जी दूसरी गाड़ी से आने वाले हैं, क्योंकि उन्हें छुट्टी नहीं मिल सकी थी। इस बीच में अगवानी करने वालों में काना-फूँसी चल रही थी, बारात में दूल्हा ही नदारद था। चूँकि डॉक्टर साहब की सुधारवादी बुद्धि ने मौर और बागे का धारण करना उचित नहीं समझा था, इसलिए उनको और बरातियों से अलग करने का कोई उपाय ही नहीं था। उधर डोले में चचा जी कमर पर हाथ रख कर हाय-हाय कर रहे थे। अगवानी वाले ज्यों ही दूल्हे की तलाश में डोले की तरफ़ गए, त्यों ही चाचा जी ने कमर पर हाथ रख कर आह-आह की। अगवानी वालों की धारणा की पुष्टि हो गई। वे इस अत्यन्त स्वाभाविक, किन्तु भयङ्कर निष्कर्ष पर पहुँचे, कि चाचा जी ही दूल्हा हैं। चोट की जगह को उन्होंने वृद्धावस्था का लक्षण समझा, और कौवा कान ले कर उड़ गया! बैल-गाड़ी वालों को सामान लादने का आदेश दे कर, अगवानी वाले गाँव का यह सुसंवाद सुनाने के लिए चल दिए। शुक्ल जी का न आना भी अब उनकी समझ में आ गया।

डॉक्टर साहब और बरातियों को अगवानी वालों की काना-फूसी से कुछ अचरज और गुस्सा तो ज़रूर आया, किन्तु ग्रामीण शिष्टाचार का

नमूना-मात्र समझ कर वे चुप रह गए। बैल-गाड़ियों की खचड़-खूँ और डॉक्टर साहब की बातों में रास्ता कटने लगा, और बरात गाँव के निकट पहुँची, किन्तु जनवासे में किसी का पता भी न था। डॉक्टर साहब परेशान और क्रोधित हो रहे थे, बरातियों के पेट में चूहे कूद रहे थे; किन्तु जल-पान या भोजन तो दूर, वहाँ तो चुल्लू भर पानी का भी पता न था!

इन्तज़ाम करता ही कौन? मिश्र जी और अगवानी वालों ने सारे गाँव में तहलका मचा दिया। मिश्र जी को अपने डी० ए० वी० स्कूल वाले दिन याद आ गए। वे बड़े फ़ख्र के साथ बताने लगे—"किस तरह उन्होंने लड़कों के एक दल के साथ पहुँच कर इसी प्रकार का एक आयोजन भङ्ग किया, बुड्ढे वर को मार कर भगा दिया और बरातियों की सारी मिठाई लूट कर खा गए थे।"

गाँव वालों में भी सुधार की लहर ज़ोर मारने लगी, और मिश्र जी के नेतृत्व में समाज-सुधार को लाठी के ज़ोर से क्रियात्मक रूप देने की पूरी तैयारी हो गई। मिश्र जी के होश-हवास ग़ायब हो चुके थे। वर को उन्होंने देखा था नहीं, केवल शुक्ल जी के आश्वासन पर सारी बात तय हुई थी, वही शुक्ल जी गाढ़े वक़्त पर ग़ायब! उनको भयानक सन्देह सताने लगा। शुक्ल जी ने उन्हें क्यों ऐसा धोखा दिया? वे रोते हुए बोले—"मिश्र जी, मेरा सत्यानाश हो गया। अब क्या होगा? लग्न निकल जाने पर कन्या दूषित हो जायगी। किसी तरह शुक्ल जी का पता लगाओ। हाय! अब मैं बरातियों को कैसे मुँह दिखाऊँ?"

मिश्र जी बोले—"मरने दो सालों को, इस गाँव में पानी तक न मिलेगा। देखें, हमारे रहते कैसे इस गाँव में यह अनर्थ होता है?"

उधर बरातियों में खलबली मच रही थी। बारात का समय भी निकला जा रहा था। कन्या पक्ष की भाँति उन्हें भी शुक्ल जी पर सन्देह हो रहा था। डॉक्टर साहब बेहद परेशान थे। मित्रों की कौन्सिल बैठी। डॉक्टर साहब ने कहा—"मैं तो अब शहर में मुँह न दिखाऊँगा।"

लाला जी बोले—"शुक्ल को पुलीस में देना चाहिए। उधर से माल गटक कर बैठ गया है। मुझे तो उसी वक़्त से दाल में काला मालूम हुआ, जब उसने हमारे साथ आने में आना-कानी की। अब वह दूसरी गाड़ी से क्या आवेगा?

बाबू चन्द्रसिंह रिटायर्ड पुलिस-इन्सपेक्टर थे। उन्होंने मूँछों पर ताव दे कर कहा—"गाँव भर को बँधवा दूँगा! कोई मज़ाक़ है? अभी आदमी भेज कर कन्या के पिता को बुलवाओ।"

पण्डित जी का बुरा हाल था। उधर बरातियों की तरफ़ बुलावे आ रहे थे। उधर मिश्र जी और उनका दल उनको जाने न देता था। अन्त में एक बुद्धिमान आदमी ने कहा—"भाई, उनसे बात करने में क्या हर्ज है? कोई जबरदस्ती तो वे कर नहीं सकते। उनसे साफ़ कह देना चाहिए, कि हमें धोखा दिया गया है और हम शादी करने में असमर्थ हैं।" यह राय सबको पसन्द आई और लट्ठबन्द पार्टी के साथ पण्डित जी जनवासे की ओर रवाना हुए।

गाँव वालों का यह रङ्ग देख कर बरातियों ने समझा, कि उनको लूटने की तदबीर है; तुरन्त एक आदमी स्टेशन की ओर दौड़ाया गया, कि नजदीक के थाने में खबर करे और इन्सपेक्टर साहब के नेतृत्व में बराती-गण भी तैयार हो गए।

अलगू मिश्र आगे थे। इन्सपेक्टर साहब ने उन्हीं को अगुआ समझ कर कहा,—"आप, क्या मज़ाक़ समझते हैं? भले आदमियों के साथ ऐसी डाकाज़नी।"
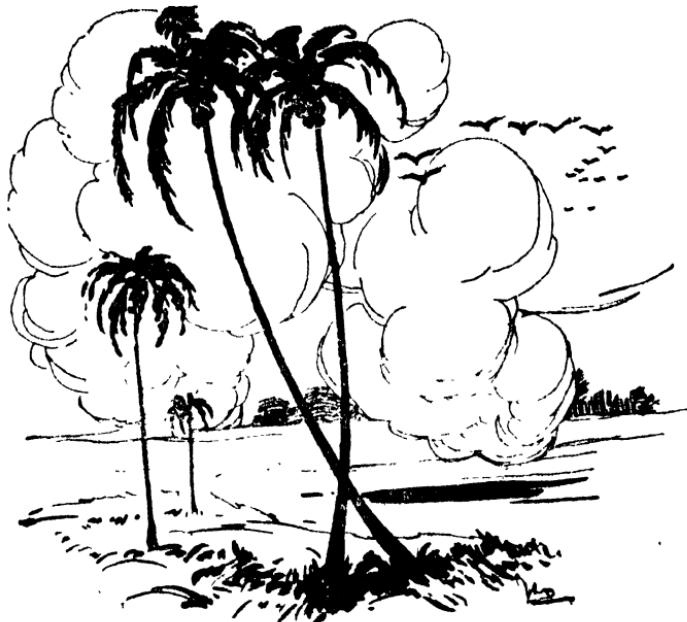
मिश्र जी ने एक वाक्य में जवाब दिया—"हमें धोखा दिया गया है। आप लौट जाइए; शादी नहीं होगी!"

"शादी नहीं होगी?" अच्छा इस गाँव का एक-एक आदमी अगर जेल न गया, तो मैं पुलिस का आदमी नहीं।"

बात बढ़ती गई। क़रीब था, कि लाठी चल जाती, कि इतने में शुक्ल जी हाँफते हुए घटना-स्थल पर पहुँच गए। वह उसी वक्त. गाड़ी से उतरे थे, रास्ते में सारा माजरा सुन कर वह दौड़े आ रहे थे। उनको देखते ही सब लोग उन पर फट पड़े। बमुश्किल-तमाम झगड़ा और तू-तू, मैं-मैं शान्त करके शुक्ल जी ने माजरे को समझा। ग़लतफ़हमी दूर होते देर न लगी। डोले पर से चचा जी लाए गए और गाली देते हुए उन्होंने कहा—"यही बदे कृपाशङ्कर से कहत रहलीं, कि मौर पहन ले, 'नाहीं ओसे का फ़ायदा है', अब फ़ायदा समझ में आयल।"

डॉक्टर साहब को अब मौर की उपयोगिता समझ में आ गई। शुक्ल जी ने भविष्य में शादी विवाह की बिचवई करने से तौबा की।

किन्तु अलगू मिश्र का अभी तक यह विश्वास है, कि चाचा जी ज़रूर असली वर थे, और उनके सद्प्रयत्नों से डर कर ही बरातियों ने डॉक्टर साहब को वर बनाया!

होली का अवसर था। पद्मा उन दिनों मायके में ही थी। पिछली गर्मियों की छुट्टी में शादी हुई थी। होली के क़रीब दस दिन पहिले पिताजी के पास सुसर साहब का एक पत्र आया कि अबकी होली पर रमेश बाबू को यहाँ आने की आज्ञा दे दें; साथ ही खबर कर दें; कि वे किस दिन और कौनसी ट्रेन से यहाँ पहुँचेंगे, ताकि लोग स्टेशन पर 'रिसीव' कर सकें।

पिता जी ने पत्र मेरे हाथ में देते हुए कहा—"चले जाओ जब इतने प्रेम से बुला रहे हैं, तो तुम्हारे न जाने से वे 'फ़ील' करेंगे। मैं होली के एक दिन पहिले रवाना हुआ, कि ठीक होली के दिन बरेली पहुँच जाऊँगा। रास्ते भर सुखद कल्पनाओं के स्वप्न देखता रहा, कि पद्मा मेरी प्रतीक्षा में आकुल होगी। विवाह के बाद वह मेरे साथ सिर्फ़ पन्द्रह दिनों तक रही थी। वह सुन्दरी थी, मृदुभाषिणी थी, पर उसमें लज्जा की मात्रा बहुत थी। मेरी एक साली भी थी—पूर्णिमा। घर वाले उसे 'पूनो' कहा करते थे। मुझे अच्छी तरह याद है, कि शादी के मौक़े पर उसने मुझे कितना बनाया था। बात भी वह खूब करती थी, इधर तो मैंने उसे देखा नहीं। फूल-सी कोमल, तितली-सी चपल, हवा-सी स्वच्छ! हँसी हमेशा उसके मुँह पर नाचा करती थी।

पद्मा का स्वभाव सौम्य था। वह शान्त प्रकृति की थी। घर में दो लड़कियाँ थीं, और दोनों का स्वाभव एक दूसरे से भिन्न था। पद्मा गम्भीर थी, और पूनो चञ्चल।

डरपोक

अख़्तर बोली"—तुम पूछ क्यों नहीं लेते डॉक्टर साहब से!"

लगभग रात के तीन बजे बरेली पहुँचा। स्टेशन पर ससुर जी स्वयं 'रिसीव' करने आए थे। रास्ते की थकान और प्रायः रात-भर जागने के कारण जब मैं घर पहुँचा, तो पलङ्ग पर लेटते ही नींद आ गई। सोचा था, पद्मा पास आवेगी, पर वह आई तो जरूर, मगर मेरे सोने की व्यवस्था करके चली गई। मैंने बुलाया, मगर शर्म के मारे न आई!

प्रभात का समय था। पूर्व दिशा में कुछ-कुछ लाली छा रही थी। रसीले मलय पवन के आलिङ्गन से जूही की कलियाँ चिटक रही थीं। मीठी सुगन्ध चारों तरफ़ फैल रही थी। पक्षियों के कोलाहल से उपवन गूँज उठा था।

जीजा जी, जीजा जी, उठो!—किसी ने मेरा हाथ पकड़ कर उठाते हुए कहा। मैं चौंक कर उठ गया। देखा, पूनो हँसती हुई मेरे सामने चाय की प्याली लिए खड़ी है। मैंने पीछे घूम कर देखा, तो बगल में 'मिरर' रक्खा हुआ था। मैंने उसे उठाया ही था, कि पूनो मेज पर प्याली रखकर मेरे और निकट आगई। दो-चार मिनट में वहाँ दो-तीन और लड़कियाँ आ गईं। शायद वे पूनो की चचेरी बहिनें थीं। सब-की-सब खड़ी जोर से हँस पड़ीं! मैं अवाक रह गया!!

मैंने देखा, मेरे बालों में, ठीक जहाँ से कढ़े थे, सिन्दूर भरा है! माथे पर भी सिन्दूर की एक बिन्दी लगी है, ऊपर से एक टिकुली! मैं तो मारे शर्म के गड़ गया। पूनो ने कहा—"जीजा जी, कल रात कहीं ड्रामें में 'फ़ीमेल' पार्ट लिया था क्या?"

मुझे जोर से हँसी आ गई। मैंने कहा—"यह सब तुम्हारी ही शरारत है......।" कह ही रहा था, कि देखा—दरवाजे पर खड़ी पद्मा भी मुस्कुरा रही थी, किन्तु मेरे आँख घुमाते ही वह दरवाजे की आड़ में छिप गई!

पन्द्रह बीस मिनट तक इसी प्रकार मैं बेवक़ूफ़ बनाया गया। लड़कियाँ अकेले में कितनी शरारत कर सकती हैं, यह इसका एक उदाहरण है। उनके बीच में मैं कर भी क्या सकता था?

"अच्छा, जाइए, बाथ-रूम में जाकर अपना चेहरा साफ़ कर लीजिए।"—पूनो ने एक शरारत से भरी दृष्टि डालते हुए कहा।

फिर मैं बाथ-रूम में गया। वहाँ पाईप के पास काग़ज़ चिपका था—"जीजा जी, होली है बुरा न मानिएगा!" मैं समझ गया, कि यह सब पूनो की ही शरारत है।

उस दिन घर भर में इसकी चर्चा रही। मैं अकेला करता ही क्या, चुपचाप सुन लेता।

पूनो की शादी इसी जाड़े में हुई थी। अभी गौना नहीं हुआ था। दिन-रात वह मुझसे इस प्रकार उलझी रहती थी, कि जब किसी समय वह मेरे पास न रहती, तो मुझे भी उसका अभाव खटका करता था। इसी प्रकार हँसी-.खुशी में दो तीन दिन बीत गए।

एक दिन शाम की बात थी। मैं जब घूम कर वापस आया; उस समय साढ़े सात बजे थे। बूटीदार साड़ी की तरह आसमान में तारे झिलमिला रहे थे। मैंने देखा, मेरे कमरे में पूनो बैठी हुई किसी पुस्तक के पन्ने उलट रही है। मेरी पदध्वनि सुन कर उसने पुस्तक रख दी और खड़ी हो गई और कुछ-कुछ शर्मिन्दी-सी भी। उसके गुलाबी कपोलों पर लालिमा दौड़ गई। वह कुछ बोली नहीं। उसके पैर दरवाज़े की तरफ़ बढ़ने लगे, मगर मैं दरवाज़े पर खड़ा था। चुपचाप एक टक उसकी तरफ़ देखता रहा!

उस समय वह हरी कामदार साड़ी और गुलाबी ब्लाउज़ पहने थी। मैंने उसे देखा, उसने मुझे देखा, और तब भी मैं ठगा-सा, लुटा-सा, उसे देखता रहा बहुत देर तक! वह भी कुछ खोई सी, अलसाती-सी हो उठी! अधरों पर एक गुलाबी रेखा दौड़ गई। नेत्रों ने मदिरा छलका दी थी। उस समय मैंने उसमें एक नवीन सौन्दर्य की सृष्टि देखी। उसकी भोली-भाली आँखों में चञ्चलता का सागर क्रीड़ा कर रहा था!

मैंने कहा—"पूनो!"

"..........." वह चुप रही। मैंने फिर कहा—"पूनो!"

अब-की भी उसने उत्तर न दिया। मैंने देखा, विषाद और निराशा की एक कठोर रेखा-सी उस के नीले होठों पर खिंच रही थी। उसके व्याकुल नेत्रों से दो श्वेत मुक्ता टपक कर उस पवित्र धूलि में गिर पड़े। उसने मेरी तरफ़ देखा, नेत्र सम्मुख हुए। मानों वे अपनी मूक-भाषा में हृदय की सच्ची

नीरवता मेरे नेत्रों में लिख देना चाहते थे। और वह अवगुण्ठित-सी कुछ-कुछ अनमनी-सी सामने से निकल गई और मैं उसके विषय में, न जाने क्या-क्या सोचता रहा। मैं कमरे के अन्दर गया, मेज़ पर उसका एक रुमाल रक्खा था। मैंने जल्दी से उठा कर उसे अपने कोट की भीतरी जेब में छिपा लिया। कमरा बन्द करके मैंने उस रुमाल को अच्छी तरह देखा। एक 'कॉर्नर' में कढ़ा हुआ था, रेशम से—पूर्णिमा। मैं ने उसे चूम लिया; पर हृदय काँप उठा! मन में किसी ने कहा—"यह क्या कर रहे हो; यदि पद्मा तुम्हें ऐसा करते देख लेती तो......।" फिर मैंने उसे दोनों हाथों पर फैला कर अपना चेहरा ढक लिया। शरीर में ठण्ढक दौड़ गई, एक जीवन-सा भर गया!

उस दिन रात को मुझे नींद नहीं आई। सोचता रहा, मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। पूनो कितनी भोली है, यदि वह मेरे जीवन में एक बार भी अपने अरमानों का दीपक सजा दे......तो......तो—इसी प्रकार की अद्भुत विचार-धारा मेरे मन में आ-आकर हलचल मचा रही थी!

दूसरे दिन मुझे जाना था। सब से बिदाई लेकर मैं पूनो के पास गया। मेरा हृदय तीव्र गति से स्पन्दन कर रहा था। वह कमरे में एकाकी बैठी थी। मैंने कहा—"पूनो, अब जा रहा हूँ।"

उसने सिर नीचे किए ही उत्तर दिया—"देखिए, मैंने आपके सिन्दूर भर दिया था। बुरा न मानिएगा।"—इतना कहते-कहते उसकी आँखें छल-छला आईं, और गला भर आया।

मेरे मुँह से निकल गया—"पूनो!"

उसने व्यथित नेत्रों से मेरी तरफ़ ताका, अपलक नीरव उच्छ्वास मे वह दृष्टि दूर होते हुए भी मुझे समीप मालूम होने लगी!

आज इस घटना को लगभग पाँच-छः वर्ष हो गए; किन्तु हर साल होली के अवसर पर उस घटना की याद आ जाती है। मन में सोचने लगता हूँ, वे दिन भी कितने पीछे छूट गए!

गरम कोट

आधा पूस बीतने पर भी जब उस साल जाड़ा विशेष नहीं महसूस हुआ, तो मैंने तय कर लिया, कि इस बार गरम कोट नहीं बनवाया जायगा। पुराने कोटों की कमी नहीं थी। फिर जाड़े के दिन ही कितने बच रहे थे, जो नया कोट बनवाया जाता।

पर अचानक एक दिन मेरे इस निश्चय की अग्नि-परीक्षा का अवसर आ उपस्थित हुआ। कुछ तो पिछले दो दिनों से बदपरहेज़ी की थी और कुछ दुबला-पतला आदमी होने से ज़ुकाम और खाँसी का शिकार अक्सर हो जाया करता था; इसलिए खाँसी बढ़ गई। उस दिन शाम को जब घर पहुँचा, तो खाँसी और नाक बहने के साथ ही सीने में कुछ दर्द भी मालूम हो रहा था। घर के भीतर ज्यों ही पावँ रक्खा, देखा—श्रीमतीजी खाना बना कर चूल्हा बुझाने की तैयारी कर रही हैं। मैंने कफ़ से रुँधे हुए गले की भारी आवाज़ में कहा—"ज़रा ठहरो, अभी चूल्हा न बुझाओ। ज़रा मेरे लिए चाय बना दो।"

"चाय ? और इस वक़्त ?"—श्रीमतीजी ने ज़रा आश्चर्य से कहा—'फिर मुझसे शिकायत न करना कि देर से चाय पीने के कारण रात-भर नींद नहीं आई।"

मैं कुछ न बोला और चुपचाप चारपाई पर आ कर लेट रहा। सर्दी मालूम होने से मैंने लिहाफ़ पाँवों पर डाल लिया।

चाय का प्याला लिए, जब श्रीमतीजी ने कमरे में प्रवेश किया, तो मैं खाँस रहा था। मेरे विवर्ण मुँह की ओर देख कर उन्होंने ज़रा चिन्तित भाव से पूछा—"क्या हुआ ? तबीयत ख़राब है क्या ?"

"नहीं, कोई ख़ास बात तो नहीं है।" मैंने कराहते हुए तकिए का सहारा ले कर उठते हुए कहा—"कुछ सर्दी लग गई जान पड़ती है। खाँसी और जुक़ाम तो परसों से हैं ही, आज सीने में भी कुछ दर्द मालूम हो रहा है।"

"होगा क्यों नहीं।" ज़रा गम्भीर हो कर श्रीमतीजी ने कहा—"तुम-सा लापरवाह आदमी मैंने नहीं देखा! पचास बार कहा, कि गरम कोट बनवा लो, जाड़ा बढ़ रहा है; पर तुम्हें तो जैसे कुछ फ़िक्र ही नहीं। ऐसी भी क्या किफ़ायतशारी? पैसा क्या आदमी की जान से भी बढ़ कर है?"

चाय पी कर ख़ाली प्याला श्रीमतीजी को देते हुए मैंने कहा—"मैं अभी खाना नहीं खाऊँगा। मुझे सो जाने दो। तुम खा लो।"

चाय का ख़ाली प्याला ले कर बाहर जाते हुए श्रीमती जी ने कहा—"मुझे भी भूख नहीं है। उठा कर रक्खे देती हूँ।" इसके बाद जब तक मैं जगता रहा, वे कमरे में नहीं आईं।

जाड़े के बढ़ने का प्रभाव मैं अपने-आप पर स्पष्ट देख रहा था, और उससे भी बढ़ कर श्रीमतीजी की 'भूख-हड़ताल' ग़ज़ब ढाए दे रही थी। काहिली और किफ़ायतशारी भी अब बिना गरम कोट के यह जाड़ा बिता देने के निश्चय को पूरा करने में अपनी असमर्थता प्रगट कर रही थीं। आख़िर मुझे गरम कोट बनवाने का पक्का-पुख़्ता इरादा करना ही पड़ा!

इरादा तो कर लिया; पर यह तय नहीं कर पाया, कि गरम कोट बने कैसा? तरह-तरह के कपड़ों के पैटर्न और क़िस्म-क़िस्म की सिलाई के डिज़ा-इन जैसे मेरी हर कल्पित कोट की पसन्दगी को रद्द करने लगे। कपड़ा सादा हो या धारी और चौखानेदार? कोट बन्द गले का हो या खुले का? बिना पतलून के क्या नया गरम कोट फबेगा? लेकिन नहीं, पतलून-वतलून की झञ्झट में मैं क्यों पड़ूँ? फिर क़मीज़ भी नई बढ़िया बनवानी होगी, टाई भी, हैट भी, मोज़े भी, जूते भी नए लेने होंगे—गोया सारी पोशाक ही तैयार करानी पड़ेगी। इतने रुपए कहाँ से आएँगे? नहीं, नहीं, यह सब बखेड़ा अभी मोल लेना ठीक नहीं। अभी बजट में गुञ्जाइश है, सिर्फ़ एक गरम कोट की, सो वह भी साधारण, बहुत बढ़िया नहीं।

लेकिन बढ़िया क्यों नहीं ? हल्के कपड़ों से मेरा व्यक्तित्व जो हल्का लगेगा। और कोई कुछ समझे या नहीं, मैं खुद भी तो अपनी नजरों में गिर जाऊँगा। बड़े-बड़े लोगों में मुझे जाना होता है। मामूली कपड़े का कोट पहने देख कर मेरे बारे में वे क्या सोचेंगे ? और इसी समय मुझे याद हो आई एक प्रसिद्ध विदेशी लेखक की वह बात—कपड़ों से आदमी के व्यक्तित्व का प्रभाव बढ़ जाता है ! कपड़ों का आदमी के बाहरी दिखावे में कितना प्रमुख हाथ है !!

और मैं बिना किसी निश्चय पर पहुँचे ही उठ खड़ा हुआ। जा कर श्रीमतीजी से गरम कोट बनवाने के लिए रुपए माँगे। उन्होंने खुशी-खुशी बटुआ निकालते हुए पूछा—"कितने चाहिएँ ?"

मैंने हँस कर कहा—"बहुत बढ़िया कोट तो डेढ़ सौ रुपए से कम में नहीं बन सकता; पर तुम जितना दे सको, दो।"

"डेढ़ सौ रुपए तो क्या, इतने पैसे भी शायद इसमें न होंगे। अच्छा, कपड़ा उधार क्यों नहीं ले आते ? तनख्वाह मिले तब मोदी और मकान-मालिक के साथ उसे भी दे देना।"

मकान-मालिक का नाम सुनते ही मेरी सारी हँसी ग़ायब हो गई। पिछले पाँच महीनों से उसे किराया नहीं दिया गया था, और किराया देने का डर ही गरम कोट बनवाने के खर्च में बाधक हो रहा था। मुझे मौन देख कर श्रीमती जी ने दस-दस रुपए के दो नोट मेरे हाथ में रक्खे और मुस्कुरा कर बोलीं—"जाओ, पहिले कपड़ा ले कर कोट सिलने दे आओ। ज्यादा सोचने से आदमी पागल हो जाता है, समझे।"

मैं अनायास झेंप-सा गया और रुपए जेब में डाल कर बाजार की तरफ़ चल पड़ा।

गुप्ता ब्रदर्स के यहाँ जब मैं पहुँचा, तो भीड़ काफ़ी थी। सहसा मुझे ख़याल आया—यहाँ बुरे फँसे ! यह 'घर की दुकान' है, यहाँ से बिना खरीदारी किए लौट जाना प्रतिष्ठा के लिए घातक होगा ! पर इसी वक़्त लौट जाने से दरवाज़े पर बैठा हुआ दरबान मेरे बारे में क्या सोचेगा ? अभी मैं आगे बढ़ने या पीछे लौटने के सम्बन्ध में कुछ भी तय नहीं कर पाया था,

कि छोटे गुप्ता की नज़र मुझ पर पड़ी और वे आग्रह पूर्वक बोल उठे—"आइए मास्टर जी, आज तो बहुत दिनों बाद दर्शन दिए! क्या बात है, कैसे रास्ता भूल पड़े?'

"वैसे ही, एक गरम कोट बनवाने का इरादा था।" मैंने आगे बढ़ते हुए कहा—"लेकिन आपके यहाँ देख रहा हूँ, इस वक़्त भीड़ काफ़ी है।"

"अरे साहब, आप सबसे पहिले लीजिए।"—कह कर गुप्ता ने अपने नौकर से गरम कोट के कपड़े लाने को कहा और मेरी ओर देख कर बोले—"बात यह है मास्टर जी कि आज है छुट्टी का दिन; इसीलिए भीड़ ज्यादा है, वर्ना आजकल बिक्री-विक्री है कहाँ?"

कपड़े आए और मैं एक के बाद एक देखने लगा। जब मैंने उनके भाव पूछने शुरू किए, तो मालूम हुआ, कि बदक़िस्मती से वे सब पाँच, छः या सात रुपए गज़ थे और कुछ इससे भी अधिक के। कपड़ों का भाव सुन कर जैसे मेरे कोट की जेब में पड़े दोनों नोट बरबस बाहर आने को उतावले हो रहे थे! उन्हें जैसे-तैसे दबा कर मैंने रक्खा और कहा—"अच्छा गुप्त जी, अभी आप मुझे आज्ञा दीजिए। बाज़ार से लौटते हुए फिर आऊँगा।"

"कोई बात नहीं"—पान की गिलौरी चबाते हुए गुप्ता ने कहा—"यह तो आपही की दुकान है, जिस वक़्त चाहें, तशरीफ़ ला सकते हैं।"

नमस्कार कर मैंने गुप्ता से विदा ली। बाहर आ कर सोचा—दो-चार दुकानों पर पूछ-ताछ किए बिना कोई चीज खरीदना महज़ बेवक़ूफ़ी है। फिर गुप्ता के यहाँ तो लिहाज़-मुलाहिज़े की छुरी के गले पर चलने की आशङ्का भी कम नहीं।

दोनों ओर की दुकानों पर नज़र डालता हुआ सड़क पर चला जा रहा था, कि एक दुकान पर टँगे कई कोटों ने मेरा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। कौतूहलवश मैं भी उस ओर चला गया। देखा—दूकानदार के सामने एक बढ़िया नया-सा कोट फैला पड़ा है। ग्राहक कह रहा है—"अरे साहब, कुछ तो कम कीजिए। मुँह-माँगे दाम भी भला कहीं मिले हैं?"

दूकानदार कह रहा था—"बाबू साहब, आपको मेरी बात का इतमीनान क्यों नहीं होता? मैंने एक पाई भी ज्यादा नहीं बतलाई है। आप

सच मानिए, पाँच रुपए में तो आपको ऐसा बढ़िया कोट कोई सी के भी नहीं देगा। कपड़ा तो ऐसा बीस रुपए गज भी आपको हिन्दुस्तान में कहीं नहीं मिलेगा। आज सुबह ही अमेरिका से जो गाँठें आई हैं, उनमें से यह पहला कोट आपको दे रहा हूँ।"

"अच्छा, पौने पाँच रुपए लीजिए। हटाइए, अब ज्यादा बहस मत कीजिए।"—ग्राहक ने कहा।

"बस, माफ़ कीजिएगा।"—कह कर दुकानदार ने कोट की तह लगाते हुए कहा—"अगर और कहीं आपको सवा पाँच में मिले, तो मुझसे आप एक कोट मुफ्त ले जाइएगा।"

"अच्छा, लाइए"—कह कर ग्राहक ने पाँच रुपए का एक नोट दूकानदार के हाथ में थमाया और कोट ले कर चलता बना।

मुझे उत्सुक दृष्टि से कोटों को निहारते देखकर दूकानदार ने कहा—"अच्छा, आपको कैसा कोट दूँ, फ़रमाइए।"

बिना इस बात का विशेष ख़याल किए, कि मुझे पुराना और उतरा हुआ कोट नहीं ख़रीदना है, मैंने एक कोट की तरफ़ इशारा करते हुए पूछा—"यह कितने का होगा?"

दूकानदार फुर्ती से उठा और मेरे बताए हुए कोट को उतार कर मेरे सामने रखते हुए बोला—"क़ीमत फिर दर्याफ़्त कीजिएगा, पहिले ज़रा मुलाहिज़ा तो फ़रमाइए। एकदम नया है। अस्तर वग़ैरह सब ठीक है। कहीं किसी क़िस्म का दाग़-धब्बा या सूराख़ नहीं है। आपके आएगा बिलकुल फ़िट। ज़रा बटन तो इसके देखिए—मोती की तरह चमकते हैं।"

मेरी इच्छा उस कोट को एकदम ख़रीद लेने की नहीं थी, पर दूकानदार की वाक्पटुता ने मुझे कुछ ऐसा चौंधिया दिया, कि वास्तव में वह कोट मुझे बेहद पसन्द आ गया। दूकानदार की जिव्हा के साथ ही साथ मेरी आँखें क्रमशः कपड़े की उत्तमता, अस्तर की चमक दाग़-धब्बों या सूराख़ों की अदम-मौजूदगी और मोती से चमकने वाले उसके बटनों पर दौड़ गई और जल्दी से जल्दी उस कोट को पहनने की लालसा जैसे एकदम ऊठ आई!! ख़ुशी के मारे मेरी आँखें अनायास ही चमक उठीं!

मैंने ज़्यादा बहस करना ठीक न समझ, जल्दी ही सौदा ख़त्म किया और सात रुपए में उस कोट को ले कर सीधा घर पहुँचा।

२

श्रीमतीजी ने मेरी बग़ल में काला-काला कुछ देखा, तो पूछा—"यह कैसा कपड़ा लाए हो ?"

मैंने लापरवाही से कहा—"कपड़ा नहीं, कोट है।"

"कोट ?" श्रीमतीजी ने साश्चर्य पूछा—"इतनी जल्दी कैसे सिल गया ? किसी दूसरे का तो नहीं उठा लाए ?"

"नहीं, नहीं, सिला-सिलाया ही ख़रीद लिया है"—कहते हुए मैं कमरे की ओर बढ़ गया।

पीछे-पीछे श्रीमतीजी भी आईं। बोलीं—"सिला-सिलाया कहाँ से ले आए ? अरे, कहीं उन विलायती कोटों में से तो सस्ता देख कर नहीं ख़रीद लाए, जो उतारे हुए बिकते हैं ? न मालूम कैसे मरीज़ों या मुर्दों के उतारे हुए होते हैं वे ?"

श्रीमतीजी का लैक्चर सुन कर मेरा माथा ज़रा ठनका और कोट मेज़ पर रख कर चोर की तरह फीकी हँसी हँसते हुए उनकी ओर देख कर मैंने कहा—"ये सब तुम औरतों के वहम हैं। तुम्हें कैसे मालूम, कि ये मुर्दों या मरीज़ों के उतारू हैं। ऐसा नया कोट पचास रुपए में भी नहीं बन सकता, समझीं !"

श्रीमतीजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। पर पति-भक्ति ने उनके विरोध को, जिस उदासी का रूप दे दिया था, वह उनके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। बिना इस ओर अधिक ध्यान दिए, मैंने अपना ठण्डा कोट उतारा और लाए हुए गरम कोट को झाड़ कर पहना। कोट की लम्बाई और बाहें ठीक थीं। कमर के पास की उसकी चौड़ाई का पता मुझे, उस समय लगा, जबकि मैंने सबसे नीचे का बटन लगाने का यत्न किया ! वह शायद मेरी कमर से आधी होगी। ऊपर के बटनों पर नज़र डाल कर जैसे मैं चौंधिया गया। छाती के बटन बन्द करने पर मुझे कोट इतना ढीला मालूम हुआ, कि शायद दोनों हाथों को अन्दर डाल कर भी उसका ढीलापन कम नहीं किया जा सकता था। और सहसा यह ख़याल करके, कि यह कोट

शायद किसी 'केहरि-कटि' और 'हस्तिनी-वक्षा' सुन्दरी का है, मेरी सारी प्रसन्नता झेंप में बदल गई! डरते-डरते मैंने जब श्रीमती जी की ओर देखा, तो वे एक हाथ से हँसी रोकने के लिए मुँह बन्द किए और दूसरे में एक गोल तकिया लिए खड़ी थीं। मैं कुछ कहूँ, इससे पहिले ही उन्होंने तकिया आगे बढ़ाते हुए कहा—"कमर खुली रहे तो कोई बात नहीं, पर सीने को सर्दी से बचाने के लिए यह तकिया रख लो और फिर ऊपर से बटन बन्द कर लो! इसको सीने वाला दर्ज़ी वाक़ई बड़ा समझदार और दूरदर्शी मालूम होता है!!"

यह व्यंग्य मेरे लिए असह्य था, और इसलिए ही मेरी झेंप ने दूसरे ही क्षण क्रोध का रूप धारण कर लिया। पर श्रीमतीजी पर हाथ उठा कर पुरुष के नाम को कलङ्कित करने के बजाय, मैंने दूकानदार की खबर लेने का निश्चय किया। कोट उतार कर मैंने बग़ल में दबाया और दूकान की तरफ़ चल पड़ा।

बग़ल में कोट दबाए जब मैं दूकानदार के सामने पहुँचा, तो मैंने देखा, कि उसकी आँखों में मेरे लिए अब वह पहिले वाला स्वागत-सत्कार का भाव नहीं था। मेरी ओर देख कर उसने फ़ौरन अपनी नज़र दूसरे ग्राहक की तरफ़ कर ली और उससे बातें करने लगा। मेरे यह कहने पर, कि यह कोट मेरे फ़िट नहीं आता है और जल्दी में मैं इसे पहन कर देखे बिना ही ले गया था, उसने रुखाई के साथ कहा—"यह मेरा क़ुसूर तो नहीं है, बाबू साहब! एक बार बेचा हुआ माल हम वापस नहीं लेते।"

बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब वह कोट वापस लेने पर राज़ी नहीं हुआ, तो मैंने ज़रा बिगड़ कर कहा—"अच्छा, तो फिर इस कोट को आप रखिए और रुपए भी रखिए। मैं इसे ले जाकर क्या करूँगा, जबकि यह मेरे किसी काम का नहीं।" और कोट दूकान पर रख कर मैं चलने लगा।

अब दूकानदार ज़रा पिघला और बोला—"अरे साहब, ख़फ़ा क्यों होते हैं, आइए। मगर एक शर्त पर ही यह वापस हो सकता है, कि आप इसके बदले में कोई दूसरा कोट ले लें। नक़द रुपया नहीं।"

मैं दूसरा कोट लेने के उत्सुक नहीं था, पर जब दूकानदार रुपए किसी हालत में भी वापस करने को तैयार नहीं हुआ, तो सोचा—चलो, इस बार

ठीक देख-दाख कर लिया जाय दूसरा कोट। कई कोटों में से छाँट कर आख़िर एक चुना। उसका कपड़ा मुझे बेहद पसन्द आया। पर था वह काफ़ी बड़ा, सो उसके लिए दूकानदार की यह बात मेरी समझ में आ गई, कि इसे खुलवा कर दर्ज़ी से दुबारा अपने नाप का सिलवा लिया जाय! चुपचाप वह कोट ले कर घर की ओर चल दिया।

३

दूसरा कोट ले कर जब मैं घर में दाख़िल हुआ, तो श्रीमती जी ने कोई विशेष आपत्ति नहीं की; पर उनकी आँखों की शरारत छुप नहीं रही थी। मुझे देखते ही बोलीं—"यह तो उससे भी बढ़िया है! वाह, क्या कहने हैं, इस कोट के! बोरे का टाट तो इसके सामने पासङ्ग भी नहीं!!"

मैं कुछ न बोला। चुपचाप कमरे में आ कर बैठ गया। थोड़ी देर बाद श्रीमती जी ने कमरे में प्रवेश किया और कोट को उठा कर देखते हुए कहा—"हाँ, इस बार ठीक लाए हो। ज़रा पहन कर तो देखो, फ़िट आता है या नहीं।"

इतनी जल्दी दूसरा रिहर्सल करने के लिए मैं तैयार न था; पर न जाने क्या इसरार था श्रीमती जी के शब्दों में, कि मैं फिर अपनी बेवक़ूफ़ी को दोहराने के लिए तैयार हो गया। अपने बड़े शीशे के सामने उन्होंने मुझे खड़ा किया और बड़ी गम्भीर मुद्रा बना कर कहा—"मैं तुम्हें बना नहीं रही हूँ। ज़रा इसे पहन कर देख लो, कि कहाँ से कितना बड़ा या छोटा है, ताकि सुबह दर्ज़ी को बुला कर ठीक करवा दूँ।"

डरते-डरते मैंने कोट पहना। लम्बाई उसकी मेरे घुटनों से शायद चार अङ्गुल ज़्यादा थी। बाहें भी तक़रीबन इतनी ही बड़ी थीं और चौड़ाई मेरे शरीर से लगभग दुगुनी। अभी मैं कोट को देख ही रहा था, कि शीशे में मुझे, अपने सिर पर कोई काली चीज दिखाई दी। ज्यों ही मैंने पीछे मुड़ कर देखा—श्रीमती जी मेरे सिर पर छाता ताने हुए खड़ी थीं! उनकी इस गुस्ताख़ी पर मुझे क्रोध भी आया और आश्चर्य भी हुआ। पर मैं कुछ कहूँ, इससे पहिले ही वे बोल उठीं—"यह है एकदम फ़िट! छाते के साथ तो यह सर्दी और पानी दोनों से बचा सकता है। पूरे सार्जन्ट जँच रहे हो!"

जी में आया, कि इस बेअदबी के लिए श्रीमतीजी के एक चपत जड़ दी जाय, लेकिन चपत जड़ने के लिए जब हाथ उठाया, तो मालूम हुआ, कि हाथ बाँह के अन्दर छुप कर बाहर आने में अपनी विवशता जाहिर कर रहा है !